MANGALAYATAN
UNIVERSITY
Learn Today to Lead Tomorrow

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था
(INDIAN POLITICAL SYSTEM)

MAP-103

Self Learning Material

मङ्गलायतन
विश्वविद्यालय
॥ विश्वं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥

Directorate of Distance & Online Education

MANGALAYATAN UNIVERSITY
ALIGARH–202146
UTTAR PRADESH

© Publisher

Edited by :
Dr. Tarique Anwer

No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any meaning now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior permission from the publisher.

Information contained in this book has been published by A. S. Prakashan, Meerut and has been obtained by its authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the publisher and its author shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specially disclaim and implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक **'भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'** में विषय पर आधारित बहुत से तथ्यों का अध्ययन करेंगे। इस विषय पर निम्नलिखित ईकाईयों पर ध्यान केन्द्रित किया है-

- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का नामकरण और विशेषताएँ
- ाचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोत तथा अध्ययन में कठिनाइयाँ
- वैदिक साहित्य में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ
- हाभारत
- मनु : राजनीतिक व सामाजिक विचार
- कौटिल्य
- गुरुनानक देव जी के राजनीतिक व सामाजिक विचार
- गुरुगोविन्द सिंह जी के राजनीतिक व सामाजिक विचार

SYLLABUS

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

INDIAN POLITICAL SYSTEMS

UNIT–I

1. Nomenclature and Characteristics of Ancient Indian Political Thought.
2. Sources of Ancient Political Thought and Difficulties in the study of Ancient Indian Political Thought.
3. Political Thought and Institutions in Vedic Literature
4. Mahabharata

UNIT–II

1. Manu: Political and Social Ideas
2. Kautilya

UNIT–III

1. Political and Social Ideas of Guru Nanak DevJi.
2. Political and Social Ideas of Guru Gobind Singh Ji.

विषय-सूची

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का नामकरण और विशेषताएँ 1-15
उद्देश्य
प्रस्तावना
चिन्तन का आशय
चिन्तन के विविध नाम
चिन्तन के दोष
चिन्तन का महत्त्व
चिन्तन का विकास
भारतीय चिन्तन की मुख्य विशेषताएँ
ारतीय राजनीतिक चिन्तन की आलोचना
भारतीय राजनीतिक दर्शन और पाश्चात्य विद्वान
सारांश
अभ्यास प्रश्न
बहुविकल्पीय प्रश्न

2. ाचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोत तथा अध्ययन में कठिनाइयाँ 16-30
उद्देश्य
प्रस्तावना
प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्त्रोत
राजनीतिक चिंतन में उत्पन्न कठिनाइयां
सारांश
अभ्यास प्रश्न
बहुविकल्पीय प्रश्न

3. वैदिक साहित्य में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ 31-57
उद्देश्य
प्रस्तावना
वैदिक साहित्य
वैदिक काल की अवधारणा
राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार
राजत्व सम्बन्धी विचार
वैदिक कालीन संस्थाएँ
न्त्रिमण्डल सम्बन्धी विचार
वैदिक गण का विवेचन
वैदिक कालीन सैन्य, कर व न्याय प्रक्रिया
सारांश
अभ्यास प्रश्न
बहुविकल्पीय प्रश्न

4. हाभारत 58-77
उद्देश्य
प्रस्तावना
महाभारत के संबंध में पश्चिमी इतिहासकारों की धारणा
महाभारत के राजनीतिक आदर्श
महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ
ाज्य का आवयविक स्वरूप
राजा के कर्त्तव्य
उत्तराधिकार के नियम व राज्याभिषेक
धर्म व राजनीति का सम्बन्ध
मन्त्रि-परिषद
जन-संसद
दण्ड की महत्ता
न्याय-व्यवस्था
आर्थिक व्यवस्था
सैन्य व्यवस्था
षडगुण्य नीति एवं उसका व्यावहारिक पक्ष
गण एवं संघ राज्य
सारांश
अभ्यास प्रश्न
बहुविकल्पीय प्रश्न

5. मनु : राजनीतिक व सामाजिक विचार 78-88
उद्देश्य
प्रस्तावना
जीवन परिचय
राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार
राजा संबंधी विचार
कर व्यवस्था संबंधी विचार
कानून, न्याय व दण्ड संबंधी विचार
विधायिका संबंधी विचार
प्रादेशिक शासन संबंधी विचार
विदेश नीतिः मण्डल सिद्धान्त व षाड्गुण्य नीति
शासन संबंधी विचार
मनु एवं कौटिल्यः तुल्नात्मक अध्ययन
सारांश
अभ्यास प्रश्न
बहुविकल्पीय प्रश्न

6. कौटिल्य 89-141
उद्देश्य
प्रस्तावना
जीवन परिचय
राजनीतिक व्यवस्था
राज्य संबंधी विचार
शासक संबंधी विचार
सप्तांग सिद्धांत
षाड्गुण्य नीति
कानून संबंधी विचार
न्याय संबंधी विचार
दंड संबंधी विचार
गुप्तचर संबंधी विचार
युद्ध संबंधी विचार
दूत व्यवस्था
मंत्री परिषद अथवा अमर्त्य संबंधी विचार
प्रशासनिक व्यवस्था
मंडल सिद्धांत
कौटिल्य का अर्थशास्त्र
कौटिल्य के राज्य दर्शन की समीक्षा
कौटिल्य एवं मैक्यावली
कौटिल्य एवं यूनानी विचारक
सारांश
अभ्यास प्रश्न
बहुविकल्पीय प्रश्न

7. गुरुनानक देव जी के राजनीतिक व सामाजिक विचार 142-156
उद्देश्य
प्रस्तावना
जीवन परिचय
गुरुनानक देवः राजनीतिक विचार
राजनीति में गुरुनानक देव की भूमिका
सारांश
अभ्यास प्रश्न
बहुविकल्पीय प्रश्न

8. गुरुगोविन्द सिंह जी के राजनीतिक व सामाजिक विचार 147-164
उद्देश्य
प्रस्तावना
जीवन परिचय
खालसा पंथ की स्थापना
गुरु गोविन्द सिंह के राजनीतिक विचार
गुरु गोविन्द सिंह के सामाजिक विचार
सारांश
अभ्यास प्रश्न

इकाई

1

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का नामकरण और विशेषताएँ
(NOMENCLATURE AND CHARACTERISTICS OF ANCIENT INDIAN POLITICAL THOUGHT)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- चिन्तन का आशय
- चिन्तन के विविध नाम
- चिन्तन के दोष
- चिन्तन का महत्व
- चिन्तन का विकास
- भारतीय चिन्तन की मुख्य विशेषताएँ
- भारतीय राजनीतिक चिन्तन की आलोचना
- भारतीय राजनीतिक दर्शन और पाश्चात्य विद्वान
    - सारांश
    - अभ्यास प्रश्न
    - बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगे:

➡ चिन्तन के आशय को।

➡ चिन्तन के महत्व को।

➡ चिन्तन के विकास को।

➡ चिन्तन की विशेषताओं को।

● प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्यधिक प्राचीन माना गया है। इसका आरम्भ वैदिक काल से लेकर मुगल काल तक माना जाता है। दुर्भाग्यपूर्ण वंश गुलामी के समय यह भ्रम फैलाया गया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन अति साधारण स्तरीय है। यहाँ तक कि कुछ विद्वानों द्वारा इसे आदर्शवादी,

अव्यावहारिक समझा गया। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इस धारणा का प्रतिपान किया गया कि प्राचीनकाल में भारतीयों की दृष्टि धर्मशास्त्र व अध्यात्मवाद पर केन्द्रित मात्र थी जिस कारण भारतीय राजनीति में चिंतन का पूर्णतः अभाव था। इस भ्रमपूर्ण विचार के सबसे अधिक जिम्मेदार अंग्रेजी शासक थे। भारतीय राजनीति का इतिहास उतना ही पुराना है जितना यहाँ की सभ्यता, संस्कृति व धर्म है। भारत के वेद व पुराण, उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन के उत्कर्ष उदाहरण स्वरूप है। प्लेटो के समकालीन कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आधुनिक स्वरूप का एक आदर्श उदाहरण है।

भारतीय चिन्तन मात्र व्यावहारिक ही नहीं वरन् अत्यधिक उपयोगी भी है। भारतीय चिन्तन का मूल मानव के इर्द–गिर्द घुमता है। पाश्चात्य चिन्तन में मानव केन्द्रबिन्दु के रूप में लगभग 18वीं शताब्दी में बना जबकि इसके विपरीत भारतीय चिन्तन में यह प्रारम्भ से ही विद्यमान था। भारतीय चिन्तन को विभिन्न नामों जैसे राजधर्म, दण्डनीति व नीतिशास्त्र से जाना जाता है। पंचतंत्र में भारतीय चिन्तन को नृपतंत्र कहा गया।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में धर्म व राजनीति को एक साथ जोड़कर देखा गया जिसमें आध्यात्मिकता पर पूर्ण बल दिया गया है। भारतीय चिन्तन में राजा को आवश्यक माना गया है जिसका कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय चिन्तन का दृष्टिकोण पूर्णतः व्यावहारिक व राजा का कार्यक्षेत्र अति व्यापक है।

● चिन्तन का आशय

प्राचीन भारतीय चिन्तन अत्यधिक पुरातन है। इसका उद्गम वैदिक काल से मुगल काल तक माना जाता है। आज से लाखों वर्ष पूर्व जब संसार में चिन्तन का कोई विस्तार न था उस समय भी भारतीय राजनैतिक व सामाजिक चिन्तन अपने सर्वोच्च शिखर पर विद्यमान था। चिन्तन की यह गौरवशाली परम्परा तब वैदिक काल से प्रारम्भ होकर आधुनिक समय तक बनी हुई है।

औपनिवेशिक काल में पाश्चात्य विचारकों द्वारा यह भ्रम फैलाया गया कि भारतीय चिन्तन अत्यन्त साधारण हैं जिसमें कुछ भी उल्लेख करने योग्य नहीं है। इस भ्रम को मैक्समूलर, डनिंग जैसे पाश्चात्य विद्वान जो पूर्वाग्रह से पूर्णत ग्रस्त थे, आगे बढाया। जैसे–जैसे समय निकला, विश्व के समक्ष नए तथ्य प्रस्तुत होने लगे व पाश्चात्य विचारकों द्वारा फैलाया गया यह भ्रम चकनाचूर हो गया। नए तथ्यों द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन विश्व में अत्यधिक प्राचीन व प्रासंगिक है। भारत में प्लेटो तथा अरस्तू से शताब्दियों पूर्व राजनैतिक चिन्तन का व्यापक विवरण देखने को मिलता है। भारतीय चिन्तन के उत्कृष्ट नमूने वेद, पुराण व उपनिषद् है। मैक्सी का यह कथन भारतीय चिन्तन की प्राचीनता को सिद्ध करता है कि **"हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनैतिक इतिहास यूरोप के राजनैतिक इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनैतिक विचारों की दृष्टि से निष्फल भी नहीं है।"**

एशियाटिक सोसायटी के उदय के उपरान्त तत्तक्षणिक स्थिति में बदलाव हुआ व ब्रिटेन की परिवर्तित परिस्थितियों में भारतीय संस्कृति व इतिहास की जानकारी की आवश्यकता महसूस हुई। यहीं से भारतीय चिन्तन का नया स्वरूप संसार के सम्मुख आया।

● चिन्तन के विविध नाम

राजनीतिक चिन्तन को प्राचीन काल में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता था। यह समयानुसार केवल अपनी लोकप्रियता ही नहीं वरन् नाम को भी खोता व पाता रहा है। विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में इसके

विविध नाम जैसे स्मृतियों में राजधर्म, महाभारत में राजशास्त्र, दण्डनीति एवं अर्थशास्त्र तथा पंचतंत्र में नृपतंत्र कहा गया। प्रो० अलतेकर का कथन इस वाक्य की प्रमाणिकता को सिद्ध करता है। वे कहते है **"राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि नामों से प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र को संबोधित किया गया है।"** राजनीतिक चिन्तन को दण्डनीति पूकारने का आधार बहुत स्पष्ट है। बहुत से विद्वानों ने राजसत्ता का अंतिम आधार दण्ड को ही बताया है। उनके अनुसार यदि कानुन तोडने वालों को राजनैतिक सत्ता द्वारा दण्ड न दिया जाए तो सम्पूर्ण राज में अराजकता उत्पन्न होगी जिसका निवारण मात्र दण्ड द्वारा भय उत्पन्न कर व्यवस्था को पूनः सुचारू रूप से व्यवस्थित करना है।

परन्तु कौटिल्य द्वारा इस धारणा को पूर्णतः अस्वीकार किया गया। उसकी मान्यतानुसार दण्ड से मात्र भय उत्पन्न होता न कि कर्तव्य पालन के प्रति सजगता। उनके अनुसार कानून तोड़ने वालों को दण्डित करने से प्रजा स्वतः कानुनों का पालन करने की ओर बढ़ अवश्य जाती है। परन्तु उसमें नैतिक कर्त्तव्यों के स्वयं पालन करने की जिज्ञासा का अन्त हो जाता है। मनु के अनुसार दण्ड देने वाली मानवीय सत्ता राजा नहीं अपितु वरन् दण्ड शायक है। ऐसे में शासक व समाज को कर्तव्य बताने वाले शास्त्र को दण्डनीति के नाम से जाना गया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र शासननीति का एक सुदृढ़ विवरण था।

नीतिशास्त्र शब्द में नीति का अर्थ सही मार्ग दिखाने से लिया गया है। उचित व अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र ही नीतिशास्त्र है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति शतक विशाल अर्थ में नीति पर चर्चा करता है। कामदंक तथा शुक्र शासन सबंधी ग्रन्थ नीतिशास्त्र के नाम से ही जाने जाते हैं। वे इसे अन्य नाम जैसे राज्य शास्त्र या दण्डनीति के नाम से नहीं पुकारते है। कौटिल्य की मान्यता यह थी कि 'अर्थ शब्द से व्यक्ति का व्यवसाय स्पष्ट व भूमि इंगित होती है जिस पर रहकर व्यवसाय किया जा सकता है। अतः उस भूमि को प्राप्तकर उसे बनाये रखने का शास्त्र ही 'अर्थशास्त्र' है। इसी कारणवश उसने अपने शासन संबंधी ग्रन्थ को अर्थशास्त्र कहा। शुक्रनीति में भी यह स्पष्ट किया गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र मात्र संपत्ति के प्राप्ति के उपायों की चर्चा ही नही वरन् शास्त्र के सिद्धान्तों को स्थापित करना भी है। क्रामन्दक के समय में जो नीति शब्द राज्य की नीति के संबंध में प्रयुक्त किया गया कुछ समय पश्चात् वह सामान्य आचरण हेतु भी प्रयुक्त किया जाने लगा। डा० भण्डारकर का कथन है, **"जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिये किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको राजा के आचरण नियमों से अलग करने के लिये राजनीतिक शब्द का प्रयोग किया जाया।"**

प्राचीन समय में राजशास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा। महाभारत में भी स्पष्ट किया गया है जिस प्रकार हाथी के पैर में सभी का पैर आ जाता है ठीक उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र समावेशित हो जाने है। यह कोई सकुचित विषय नहीं अपितु अत्यन्त व्यापक विषय है। इसमें निहित विषयों को धर्म से अलग नहीं रखा जा सकता है। इसमें सामाजिक व्यवस्था, धर्म व राजा की सत्ता आदि सम्मिलित थी जो व्यक्ति को कल्याणकारी मार्ग की ओर अग्रसर करते थे।

● चिन्तन के दोष

विश्व में अनेक विद्वान राजनैतिक चिन्तन को अनुपयोगी भी मानते हैं। इसमे मुख्य रूप से पाश्चात्य विचारक लेस्ली, स्टीफन, बर्क, बेकन व डनिंग प्रमुख है। डनिंग के अनुसार, **"जब कोई राजनैतिक पद्धति राजनैतिक दर्शन का स्वरूप ग्रहण करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसके विनाश की**

घडी आ गई है।" कुछ ऐसा ही विचार स्टीफन ने भी प्रस्तुत किया उसके अनुसार, **"वे देश भाग्यशाली है जिनके पास कोई राजनैतिक दर्शन नहीं है क्योंकि ऐसा तत्व चिन्तन निकट भविष्य में होने वाली क्रांन्तिकारी उथल पुथल का सूचक होता है।"** उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि ये विचारक राजनैतिक चिन्तन को पूर्णतः अनुपयोगी मानते है। उनके अनुसार यह आदर्शवादी, काल्पनिक भ्रम फैलाने वाला है। उनके अनुसारअच्छे विचारक प्रायः अच्छे शासक नहीं सिद्ध होते हैं व सैद्धान्तिक ज्ञान कदापि व्यावहारिक नहीं हो सकता। जिसका आदर्श उदाहरण उन्होंने प्लेटो को बताया जो अपने आदर्श राज्य को मूर्त रूप देने में पूर्णतः असफल रहा। इसका अन्य दोष अधिकांशतः विचार परिस्थितियों को जन्म देना है जिनका सामान्यीकरण कर सिद्धान्त बनाना असम्भव है। राजनैतिक दर्शन में हाब्स, रूसो के मानव संबंधी विचार तत्कालीन समाज की ही देन थे। यही कारण था कि तत्कालीन परिस्थीयों में उपजी निराशा, हताशा ने उनके द्वारा दिए गए विचारों को मानव के प्रति पूर्णतः नकारात्मक बना दिया था।

● चिन्तन का महत्व

चिन्तन का अध्ययन मानव हेतु उपयोगी भी हैं जिसे निम्न तथ्यों द्वारा समझा जा सकता है।

1. राजनीतिक चिन्तन ऐतिहासिक घटनाओं को समझने व उनकी व्याख्या करने में सहायक है।

2. राजनीतिक चिन्तन विभिन्न प्रकार की शब्दावलियों, सिद्धान्तों को जन्म देता है। जिनमें मुख्यतः राष्ट्रीयता, लोककल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवाद व पथनिरपेक्षता आदि प्रमुख हैं।

3. राजनीतिक चिन्तन से सदैव वर्तमान घटनाओं को समझने में सहायता मिलती है। क्योंकि वर्तमान समस्याओं की जड़ सदैव इतिहास में निहित होती है जिनका निवारण भी इतिहास से ही होता है। राजनीतिक चिन्तन से समस्या का निवारण ही नहीं वरन् भविष्य में आने वाली समस्याओं का हल व मार्गदर्शन भी मिलता है।

4. राजनीतिक चिन्तन में मानव संबंधों पर विचार, राज्य व सरकारों के कर्तव्यों पर विचार करना सदैव ही मानव व समाज के लिये लाभदायक सिद्ध हुआ है।

5. राजनीतिक चिन्तन का मानव के साथ घनिष्ट संबंध है। रूसो के विचारों द्वारा 18वीं शताब्दी मे फ्रांसीसी क्रान्ति का जन्म हुआ व इसके कारण वश ही वहाँ समानता, स्वतन्त्रता व भाईचारे का विचार सामने आया। मार्क्स द्वारा 20वीं शताब्दी में 'बोल्शेविक क्रान्ति' को जन्म दिया गया जिसके फलस्वरूप वहाँ साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ।

● भारतीय चिन्तन का विकास

भारतीय चिन्तन के विकास को निम्न तीन चरणों में बाँटकर समझा जा सकता।

भारतीय चिन्तन का विकास

प्रथम चरण

↓

द्वितीय चरण

↓

तृतीय चरण

प्रथम चरण: भारत में सर्वप्रथम चिन्तन के विकास का आरम्भ आर्यों के आगमन से माना गया। काल खण्ड की दृष्टि से यह चरण सौलह सौ से लेकर चौदह सौ वर्ष पूर्व तक रहा है। ऋग्वेद के अनुसार

आर्यों का समाज पितृ प्रधान था। राज्य का शासन राजतन्त्रात्मक था जिसमें राजा निर्वाचित व नियन्त्रित था। परन्तु समय के अनुसार राजा वंशानुगत व नियंत्रणमुक्त हो गया था। वैदिक काल में लोकप्रिय निकाय सभा व समिति थे व वरिष्ठ तथा शक्तिशाली व्यक्तियों का समूह जो परिषद कहलाती थी, राजा का चूनाव व उसे समय–समय पर परामर्श देती थी। धीरे–धीरे समय के साथ समाज में धर्म व कर्मकाण्ड का प्रभाव बढा।

युद्ध में विजय प्राप्ति व अत्यधिक लाभ की लालसा ने बलि प्रथा को बढ़ावा दिया। तत्कालीन समाज में पुरोहितों के कार्यों का महत्व बढ़ा व जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप उनके कार्यों पर आधार पर 'विशेषीकरण' पर बल दिया गया युद्धों की अधिक संभावनावश संगठित सेना की व्यवस्था की गयी जिसके विशेषज्ञों की क्षत्रिय कहा गया। समाज में ब्राह्मणों का महत्व बढा व अत्यधिक उपजाऊ भूमि में कृषि का विस्तार हुआ जिस कारण व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला। इसी के फलस्वरूप समाज में एक प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। इसी चरण में कृषि उद्योग व अन्य कलाओं से जूडी अन्य नयी जातियाँ स्थापित हुई व इसके अतिरिक्त गैर आर्य जो युद्ध में परास्त हुए थे उन्हें दास बनाया गया व समाज चार भागों में विभाजित हो गया।

द्वितीय चरण: भारतीय राजनीतिक चिन्तन के द्वितीय चरण में प्रथम चरण की अपेक्षा अधिक बड़े राज्य स्थापित हो गये थे। सामाजिक विकास के साथ–साथ राजनैतिक विकास पर भी ध्यान दिया गया। राजा की सैन्य व भौतिक दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास हुआ। निर्वाचित प्रथा के स्थान पर राजा पूर्णतः वंशागत हो गया व इसी चरण में राजा कानून का संरक्षक व सम्प्रभु बन गया तथा इसी के साथ ही राजा की सत्ता को धार्मिक मान्यता भी मिल गयी थी।

तृतीय चरण: विकास के तृतीय चरण में राजा पूर्णतः धर्म के प्रभुत्व से बाहर आ गया था। राज्य अत्यधिक सशक्त हो गया था जिस कारण वह धर्म को ही प्रभावित करने लगा था। यह प्रक्रिया बौद्ध व जैन धर्म के साथ आरम्भ हुई जिस कारण ब्राहमणवाद पर कठोर वार हुआ। इन दोनों धर्मों को राजा का समर्थन प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप समाज में उदार विचारों का जन्म हुआ तथा नए कानुन बनाये गये। बड़े–बड़े सम्राटों का झुकाव भी अलग–अलग धर्मों की ओर होने लगा जैसे सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म व सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का समर्थक हुआ। सामाजिक समरसता, सौहार्दता बनाए रखने हेतु राजा ने बल का प्रयोग किया व स्वयं की आज्ञाओं, आदेशों को जारी कर धार्मिक क्षेत्र में भी दखल देना आरम्भ कर दिया। मौर्य वंश के पतन के बाद भारतीय रजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन एवं नये छोटे–छोटे राज्यों की स्थापना के साथ ही नए राजा भी अस्तित्व में आये। शक व कुषाण राज्यों की स्थापना हुई। विदेशी शासकों ने प्रथम प्रहार सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था पर किया था। इस चरण में ब्राह्मणवादी व्यवस्था अत्यधिक कमजोर हो गयी थी। इसी समय दैवीय अधिकारों को बल मिला जिस कारण अनेकों शक व कुषाणों शासकों ने स्वयं को ईश्वर का पुत्र घोषित कर लिया था। यही से राजा का धर्म पर पूर्णतः प्रभुत्व स्थापित हुआ व राजा धर्म प्रचारक, रक्षक तथा सर्वोच्च व्यात्खाकार बन गया।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वरूप पूर्णतः संघात्मक था। परन्तु इसके बावजूद भी महत्वपूर्ण मसलों पर शक्तियों का केन्द्रीकरण मौजद था। सम्राट अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता एवं सम्प्रभु के समान था। वह पवित्र कानून का संरक्षक व धर्म प्रवर्तक था। वह देवता समान व न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था।

● प्राचीन भारतीय चिन्तन की मुख्य विशेषताएँ

प्राचीन भारतीय चिन्तन की निम्न विशेषता है।

1. विभिन्न नामों से अलंकृत: प्राचीन भारत मे राजनीति चिन्तन को विविध नाम से उल्लेखित किया गया जिनमें राजधर्म, दण्डनीति, अर्थशास्त्र व नीतिशास्त्र मुख्य है।

(i) राजधर्म: महाभारत के 'शांतिपर्व' में इसे राजधर्म कहा गया। प्राचीन भारत में राजतंत्र ही सबसे आधिक प्रचलित था जिसमें राज्य व शासन सम्बन्धी बातें सम्मिलित की गयी थी।

(ii) दण्डनीति: इसे प्राचीन भारत में 'प्रशासन का शस्त्र' कहकर सम्बोधित किया गया जिसका सम्बन्ध शासन के कार्यों से था। कौटिल्य के मत से मनु बृहस्पति व शुक्राचार्य द्वारा मणि चार विधाओं में से एक दण्डनीति है जिसका अभिप्राय है कि बलप्रयोग अथवा दण्ड के अभाव में कोई राज्य कायम नहीं रखा जा सकता तथा दण्ड के सम्बन्ध में मनु का मत था कि जब सब लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड उनकी रक्षा करता हैं उसी के भय से व्यक्ति न्याय के मार्ग पर चलता है।

(iii) अर्थशास्त्र: अर्थशास्त्र शब्द के प्रयोग से प्रायः संपत्ति शास्त्र का अनुभव किया जाता है जिसका अध्ययन विषय धन व अर्थ प्राप्ति का साधन व मनुष्य के हित में है जबकि इसके विपरीत राज्य शास्त्र का अध्ययन विषय राज्य व शासन, अतः दोनों परस्पर विमुख हैं परन्तु कौटिल्य के अनुसार 'अर्थ' शब्द से जैसे मानव के व्यवसाय दिग्दर्शन होते हैं ठीक वैसे ही वह भूमि को भी संबोधित करता है जिस पर रहकर व्यवसाय किया जाता है। अतः भूमि को प्राप्त करने व उसके पालन करने का साधन, अर्थशास्त्र है।

(iv) नीतिशास्त्र: नीतिशास्त्र में नीति शब्द की 'नी' धातु से अर्थ 'ले जाना' लिया जाता है। जो कि शस्त्र भलाई व बुराई में भेद तथा उचित–अनुचित कार्यों में का उल्लेख करे। इसके द्वारा मानव का मार्गदर्शन जीवन के किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है। कामनदक एवं शुक्र के राज्य व शासन सम्बंधिक रचनाएं नीतिशास्त्र कहलायी। कामनदक के सामी में जो 'नीति' शब्द राज्य की नीति के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ वह अब सामान्य आचरण हेतु प्रयुक्त किया जाने लगा। सामान्य आचरण नियमों को राजा के व्यवहार नियमों से पृथक करने हेतु 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया गया। इसी के बाद से ही राजनीति शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ।

2. आध्यात्मिकता पर बल: प्राचीन राजनीतिक चिन्तन का अध्यात्मिकता की ओर झुकाव एक प्रमुख विशेषता है। जिसमें राज्य को 'मोक्ष' प्राप्ति का एक साधन माना गया है। राजनीति सिद्धान्तों तथा राज्य व्यवस्था करते समय यह ध्यान रखा गया कि राज्य में सुख शांति की व्यवस्था पूर्णतः बनी रहे क्योंकि ऐसे वातावरण में ही आध्यात्मिकता की उत्पत्ति सम्भव है। धर्मसूत्र, स्मृति, इतिहास, पुरम, नीतिशास्त्र जति, जैन ग्रंथ आदि सभी ने मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति को ही बताया है। इसी को ध्यान में रखकर राजनीतिक सिद्धांतों का निर्धारण व तत्पश्चात उनकी रचना की गयी है। शान्ति पूर्व, शुक्रनीति व कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य ही समाज में ऐसी व्यवस्था लागू कर सकता है जो मानव को मोक्ष प्राप्ति की राह पर ले जाता है। राज्य द्वारा यज्ञ, देव पूजा, धार्मिक कार्यों में इस्तेमाल होने वाली वस्तुओं पर कर न लगाना व सभी वर्गों से धर्म का पालन करने की बात करना आदि से स्पष्ट होता है कि राज्य का लक्ष्य मात्र मोक्ष प्राप्ति था।

3. विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर बल: प्राचीन राजनीतिक रचनाकारों ने अनेक अध्ययन का केंद्र बिंदु राजनैतिक सस्थाओं को बनाया। इन संस्थाओं का महत्व, संगठन कार्य आदि का विस्तृत रूप से

वर्णन किया गया है जिनमें राजनीतिक मान्यताओं व सिद्धान्तों का वर्णन मात्र प्रासंगिक रूप से निहित है। समस्त अध्ययन का केंद्र बिन्दु मूलरूप से राजनीतिक संगठन व उनके कार्यों को बनाया गया है।

4. व्यावहारिकता पर आधारित: प्राचीन भारतीय राजनीति में आदर्श राज्य संबंधी काल्पनिक रचनाओं का पूर्णतः अभाव दृष्टिगोचर है। पाश्चात्य जगत में प्लेटो के 'रिपब्लिक' व सर टौमस मूर के 'यूटोपिया' जैसे काल्पनिकता पर आधारित ग्रन्थ भारतीय राजनीति में दृष्टिगोचर नहीं होते। इसी आधार पर ए०के० सेन ने लिखा है कि **"हिन्दू राजनीतिक चिन्तन उत्कृष्ट वास्तविकता से भरा पड़ा है और कुछ राजनीतिक अपवादों को छोडकर भारतीय राजनीतिक विचारों का सम्बंध राज्य के सिद्धान्त और दर्शन से उतना नहीं है जितना राज्य की स्थूल समस्याओं से है।"**

भारतीय राजनीति, राज्य व्यवस्था, समाज जीवन का सम्बंध, कर सिद्धांत, दण्ड सिद्धांत, न्याय सिद्धांत पर आधारित है। उदाहरण स्वरूप राज्य के सप्तांगो का विचार पूर्ण रीति से व्यावहारिक ढंग से किया गया है जिसका कारण उसमे सेना, कोश व मित्र जैसे अंगों का सही सम्नवय है। भारतीय राजनीति के अन्तर्गत मण्डल का विचार तथा संधि, विग्रह आदि विचारों का उल्लेख व्यावहारिक ढंग से किया गया है।

5. छोटे राज्यों का अस्तित्व: भारतीय राजनीतिक के अन्तर्गत यह मत प्रचलित था कि पृथ्वी अथवा भारतवर्ष कई राज्यों में विभाजित है। अतः अंतर्राज्य सम्बन्धों के विचार में विजिगीषु को केंद्र मानकर यह विचार प्रचलित है कि सम्पूर्ण भारत पर एक ही राजनीति का प्रभुत्व हो। चक्रवर्तित्व, सर्वभौम राज्य का वर्णन तथा अश्वमेघ यज्ञ का किया जाना इसी तथ्य को सिद्ध करता है कि विजिगीषु राजा अन्य राजाओं को अपनी शक्ति के बल से अपने अधीन करने का इच्छुक था अतः भारतीय राजनीतिक विचार का आधार एक ऐसा राज्य है जो बहुत बड़ा न हो व जिसका शासक अन्य राजाओं को अपने अधीन करने के लिए प्रत्यनशील हो अर्थात् **भारतीय राजनीतिक विचार छोटे राज्यों का विचार है।** भारतीय राजनीतिक विचार अनेक छोटे–छोटे राज्यों का विचार होने के कारण एकात्मक राज्य के सिद्धांत को नकारता है।

6. राजतंत्र की प्रमुखता: भारतीय राजनैतिक विचार में मुख्य रीति राजतंत्र का विचार है। राजनीति वर्णन करने वाले सभी भारतीय ग्रंथ राज व्यवस्था का केंद्रबिन्दु राजा को मानकर ही करते है। राज्य की उत्पत्ति का विचार राजा की सर्वप्रथम नियुक्ति का रूप ही है। भारतीय विचार में राजतंत्र ही सम्पूर्ण विवेचन है। यूनान के समान यहाँ गणतन्त्र व कुलीनतंत्र का विवेचन लगभग तय नहीं है। महाभारत के दो अध्यायों व कौटिल्य अर्थशास्त्र के एक अध्याय में तथा बौद्ध, जैन ग्रन्थों में 'गण' अथवा 'सघ' के नाम से इन राजपद्धियों का विवचन है परन्तु प्रमुखता मात्र राजतंत्र को ही दी गयी है।

7. धर्म तथा राजनीति में घनिष्ठता: प्राचीन भारत में राजनीतिक सिद्धांतों के विकास में धर्म का अहम स्थान था। भारतीय विचार में सभी कुछ धर्म द्वारा प्रचलित है अतः राजनीति को भी धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता। अतः धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में राज्य का विचार 'राजशास्त्र' के नाम से वर्णित है। अर्थात् राजा व प्रजा का पारस्परिक धर्म, राज्यभिषेक की विधि, राजाओं द्वारा यज्ञ करना, पुरोहित नियुक्ति व राजकुमारों के संस्कार आदि वर्णित है। इन धार्मिक पुस्तकों में मात्र राजा के कर्तव्यों का ही नहीं वरन् मंत्रियों, पुरोहित,सेनापतियों, न्यायधीश, कर्मचारी व सैनिकों के कर्तव्यों का वर्णन भी है। कर्त्तव्य व धर्म दोनों को समानार्थक बताया गया है जिस कारण राज्य सम्बन्धी विचारधर्म से प्रेरित है। यही कारण था कि प्राचीन भारत की राजनीति में नैतिकता का समावेश देखने का मिला व राजशास्त्र को नीतिशास्त्र कहकर पुकारा गया। धर्मरक्षण ही राज्य का प्रमुख दायित्व था व राजनीति तथा धर्म के

पारस्परिक घनिष्ठ संबंधों का आभास इसी तथ्य से हो जाता है कि जो ग्रन्थ प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रमुख ग्रंथ माने गए वे पूर्णतः धार्मिकता से ओत–प्रोत थे। महाभारत, रामायण, पुराण आदि साहित्यिक ग्रन्थों का प्राचीन महत्व राजनीति को समझनें में उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि धार्मिक दृष्टि से। बौद्ध, जातक एवं जैन धर्म के अनेक ग्रंथ धार्मिक दृष्टि से उपयोगी व सार्थक होने के साथ–साथ उस समय की राजनीतिक संस्थाओं का भी दिग्दर्शन करवाते है।

8. **राजनीतिक विचारों में एकता :** भारतीय राजशास्त्र के ग्रन्थों में राज्य व्यवस्था सम्बन्धी विचारो में समन्वयात्मकता प्रदर्शित होती है। पाश्चात्य राजनीतिक विचारों में जिस प्रकार का मतभेद दिखाई देता है वैसा हमें भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों में प्रदर्शित नहीं होता। भारतीय ग्रंथ एक सही विचारों का प्रतिपादन करते हैं, मोक्ष कर्मफल सिद्धान्त, वर्णश्रम व्यवस्था आदि विचारों में मात्रात्मक अंतर है। गुणात्मक अंतर नहीं। इसी प्रकार राज्यभिषेक, राजा के दैनिककार्य, राज्यतत्व, राज्यपद की उत्पत्ति आदि राजनीति विचारों के क्षेत्र में भी मनु याज्ञवल्क व कौटिल्य आदि के विचारों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करने पर समानता ही दिखाई देगी।

9. **राजनीतिक व्यवस्था परमात्मा द्वारा रचित :** प्राचीन राजनीतिक विचारों को ईश्वर रचित माना गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हैं कि परमात्मा ने स्वयं आकर पृथ्वी पर इनकी रचना की अपितु इसका अर्थ है कि समाज के लिए लाभप्रद तत्वों की रचना परमात्मा की प्रेरणा से हुई है।

10. **विशेष शब्दावली का प्रयोग :** भारतीय राजनीतिशास्त्र की शब्दावली पाश्चात्य राजनैतिक विचारों पर आधारित शब्दावली से पूर्णतः भिन्न है। उदाहरण स्वरूप राज्य का साप्तांग सिद्धांत, अंतराज्य सम्बंध के चार उपाय साम, दाम, दण्ड व भेद, तीन शक्तियाँ सत्यगुण, तमोगुण व रजोगुण आदि में प्रयुक्त शब्द विश्व के किसी भी साहित्य में वर्णित नहीं है।

11. **दंडनीति का महत्व :** भारतीय दर्शन मानवीय जीवन में आसुरी प्रवृत्तियों की प्रबलता को स्वीकार कर इसमें दण्ड शक्ति के महत्व को प्रदर्शित करते है। राजनीति में दण्ड के महत्व का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि भारतीय राजनीति का नामकरण दण्डनीति के नाम से भी कर दिया गया है। मनु के अनुसार दण्ड ही शासन है।

12. **राजा का सर्वोपरि स्थान :** प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की एक अन्य मुख्य विशेषता राजा को सर्वोच्च स्थान देना है। सभी लेखकों ने राजा को समस्त दैवी गुणों का समावेश माना है। राज्य का सार ही राजा है। कौटिल्य के अनुसार राजा व राज्य के बीच कोई अंतर नहीं माना। कालिदास के शब्दों में **"विश्व के प्रशासन का कार्यभार खुद सृष्टिकर्ता ने राजा के कंधों पर रखाहै।"** यदि राज्य में किसी भी प्रकार की कमी रहती है तो उसके लिए दोषी केवल राजा है। राजा को रात दिन हर समय कार्य करना आवश्यक है। इस सम्बंध की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि राजा को सर्वोपरि स्थान देने के साथ–साथ उसे निरंकुशकता प्रदान नहीं की गयी है।

13. **राज्य के उद्देश्यों के विषय में :** पश्चिमी राजनीतिक दार्शनिकों में राज्य के उद्देश्यों के लिए विभिन्न धारणाएं प्रचलित थी परन्तु भारतीय राजनीतिक दार्शनिकों के मतो में राज्य के ध्येय को लेकर सर्वसहमति प्रदर्शित हुयी। भारतीय प्राचीन विचारकों का मत है कि राज्य का प्रथम कर्तव्य धर्म पालन है। धर्म के अन्तर्गत व्यक्ति का अपना धर्म, वर्ण धर्म व आश्रम धर्म सम्मिलित है। कौटिल्य के अनुसार, राजा का कार्य व्यक्तियों को अपने धर्म से विचलित न होने देना है। सभी प्राचीन लेखकों के अनुसार, राजा का

कर्तव्य न्याय का प्रशासन व अपनी प्रजा की रक्षा करना है। उसका व्यवहार अपनी प्रजा के प्रति पितातुल्य होना चाहिए। राज्य व शासन के उद्देशयों के प्रति एकमत होने के कारण भारतीय राज्य कार्यक्षेत्र में कोई वाद–विवाद उत्पन्न नहीं हुए।

14. राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों में समन्वय: प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में विचारों की समन्वयता के कारण राज्य, राजा, समाज व्यवस्था, संस्थान, मानव आदि सभी का निर्माता ईश्वर है। राज्य तथा राजा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धांत, मोक्ष की प्राप्ति है। राज्य का लक्ष्य होना सांसारिक जीवन में पारलौकिक में आध्यात्मिक नियमों का विचार आदि को सामाजिक व्यवस्था व राजनीतिक व्यवस्था दोनों ने ही समान मान्यता प्रदान की है।

15. राज्य, एक आवश्यक व उपयोगी संस्था: प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने इस बात का पूर्णत: समर्थन किया है कि राज्य का स्थायित्व सामाजिक जीवन मे अत्यंत आवश्यक व उपयोगी है। जीवन में तीनों लक्ष्यों धर्म, अर्थव कर्म कि राज्य के बिना प्राप्ति पूर्णत: असंभव है। भारतीय राज व्यवस्था में राज्य व्यवस्था सर्वोपरि है। जिसके नष्ट होने पर समाज बिखर जाता है व एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण प्रारम्भ हो जाता है। राज्य ही समाज को बाँधे रखना का कार्य करता है। इसी कारण धर्मशास्त्र में भी एक अंग के रूप में राज्य धर्म का वर्णन निहित है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो प्राचीन भारत में व्यक्तिवाद व अराजकता के विचारों का अभाव रहा। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य अनावश्यक व अनुपयोगी है। परन्तु भारतीय राजनीतिशास्त्र राज्य को लोक कल्याणकारी संस्था मानते थे।

● भारतीय राजनीतिक चिन्तन की आलोचना

पाश्चात्य राजनीतिक आलोचकों ने कई बातों को आधार बनाकर प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की आलोचना की। उनका एकमात्र उद्देश्य भारतीय राजशास्त्र की स्वतन्त्रता का खण्डन नहीं वरन् उसके महत्व को कम आँकना भी था। पाश्चात्य विद्वान डनिंग निम्न शब्दों में भारतीय चिन्तन को खारिज करता है, **"भारतीय आर्यों ने अपनी राजनीति को धार्मिक और आध्यात्मवादी पर्यावरण से कभी भी स्वतन्त्र नहीं किया, जिसमें यह आज भी गढीहै।"** जर्मन विद्वान मैक्समूलर के अनुसार, **"भारतीयों को राष्ट्रीयता की भावना का पता न था। एकमात्र क्षेत्र जिसमें भारतीय मस्तिष्क ने कार्य करने, रचना करने और पूजा करने की स्वतन्त्रता पायी, वह धर्म व दर्शन का क्षेत्र था।"** पश्चिमी आलोचकों ने प्राचीन भारतीय चिन्तन पर अर्द्ध स्वेच्छाचारी शासन का भी आरोप लगाया। हेनरी मेन के अनुसार, **"पूर्व के बड़े साम्राज्य मुख्यत: कर एकत्रित करने वाली संस्थाएं भर थी। समय–समय पर किसी प्रयोजनवश वह प्रजाओं पर हिंसा बल का भी प्रयोग करते थे लेकिन वह प्रथागत कानूनों को न्यायिक ढंग से लागू व प्रशसित नहीं करते थे।"** दुर्भाग्यवश मैक्समूलर के समय से ही भारतीय चिन्तन के विषय में यह मिथ्य विचार बन गया था कि हिन्दू साहित्य में मुख्यत: दिग्भ्रमित आदर्शवाद अव्यावहारिक, आध्यात्मवाद का विवेचन है। गैटेल के अनुसार, **"हिन्दू राज्य धर्मतन्त्रात्मक न थे। राज्य धार्मिक संगठन से स्वतन्त्र था और पुजारी प्रशासनिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते थे ..... राजनीतिक दर्शन को ज्ञान की एक पृथक शाखा माना गया, उसका विस्तृत साहित्य और उसके रचयिता राज्यशास्त्र को सबसे महत्वपूर्ण शास्त्र मानते हैं।"** परन्तु कुछ पूर्वाग्रही पाश्चात्य विद्वानों के विपरीत 'राजनीतिक दर्शन' का रचयिता 'मैक्सी' भारतीय राजनीति के योगदान को स्वीकार करते हुए कहता है, **"भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के इतिहास से भी अधिक प्राचीन है। अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की अनेक शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप ने प्राय: सभी प्रकार के छोटे व**

विशाल राज्यों के उदय व पतन को देखा। भारत में ग्रामीण गणतन्त्र से लेकर चन्द्रगुप्त व अशोक शासित मौर्य साम्राज्य थे, जो अपने काल में विश्व के महान राज्य थे। उनके मिस्र व यूनान से कूटनीतिक सम्बन्ध भी थे। ऐसे में यह विश्वास करना मुश्किल है कि इतने दीर्घकालीन साम्राज्य ने राजनीतिक विचारा को जन्म ही न दिया हो।" कुछ समय पश्चात् मैक्सी के ऐसे तर्कपूर्ण विचार से अन्य विद्वान भी सहमत हुए। पाश्चात्य आलोचक प्राचीन भारतीय राजनीति के विषय में एक और प्रश्न उठाते रहे हैं कि प्राचीन हिन्दू लेखक कानून की सकारात्मक धारणा से अज्ञात थे। परन्तु उनकी इस धारणा को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि प्राचीन भारतीय चिन्तनों ने दण्डनीति का एकमत समर्थन किया है जिसमें कानून का उल्लेख मिलता है।

☛ **विशेष**

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के मुख्य सिद्धान्तो को निम्न तथ्यों द्वारा समझा जा सकता है।

- राजा का कर्त्तव्य प्रजा के विचारों को जानना है।
- राजा की आज्ञा का पालन करना ही प्रजा का कर्तव्य है। प्रजा से प्रशासन में सहयोग देने व कानून पालन करने की अपेक्षा की जाती है।
- राजाओं को मन्त्रियों व परामर्शदाताओं से समय–समय पर मार्गदर्शन ग्रहण करना चाहिए।
- राजा द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार किए गए सभी कार्य उचित होंगे।
- राजत्व एक लौकिक संस्था है जिस पर मन्त्रियों एवं जनता द्वारा संवैधानिक प्रतिबन्ध लगे होते हैं।
- युद्ध पूर्णतः मानवीय व वीरता पूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए
- शासितों को अत्याचारी शासन का विरोध करने व उसमें उलटफेर करने का अधिकार है।
- मात्र राज्य द्वारा ही धर्म व अर्थ की प्राप्ति संभव है।

● भारतीय राजनीतिक दर्शन और पाश्चात्य विद्वान

प्राचीन भारत में राजत्व सम्बन्धी चिन्तन व उसके स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में बड़ी भ्रामक धारणा रही थी। उनकी यूरोपीय भावना भारतीय राजदर्शन की श्रेष्ठता को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा थी। पश्चिम के कई विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन को यह कहकर खारिज कर दिया था कि भारतीय चिन्तकों और दार्शनिकों की दृष्टि धर्मशास्त्र और आध्यात्मवाद पर ही केन्द्रित थे। यह उनके भारतीय चिन्तन के सतही ज्ञान को दर्शाने के साथ–साथ उनके पूर्वग्रह को भी दर्शाता है। मैक्समूलर, ब्लूमफील्ड और डर्निंग जैसे विद्वानों ने यहां तक कह दिया कि भारतीय दर्शन में राजनीतिक चिन्तन का अभाव है। ये पश्चिम विद्वान यह मानते थे कि भारतीय दर्शन का स्रोत वस्तुतः हिन्दू साहित्य है। इसके आधार पर ही उन्होंने यह धारणा बना ली कि भारतीय साहित्य में संदिग्ध आदर्शवाद, अव्यावहारिक और पारलौकिक मूर्खतापूर्ण बातों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस भ्रमपूर्ण विचार का कारक भारत पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को भी माना जा सकता है जो भारतीय राजनीतिक चिन्तकों को किसी भी प्रकार का श्रेय नहीं देना चाहते थे। इस तथ्य को एक अन्य पश्चिम विद्वान मैक्सी ने इन शब्दों में स्वीकार किया है– **"पाश्चात्य व्याख्याकारों ने पूर्वीय विद्वानों के राजनीतिक विचारों के साथ ही नहीं, प्राचीन हिन्दू राजनैतिक विचारों के साथ भी दुर्व्यवहार किया है। हिन्दू राजनैतिक संस्थाओं और विचारों के सम्बन्ध में हमें ऐसे स्रोतों से ज्ञान प्राप्त हुआ है जो भारतीय जीवन और चरित्र के राजनैतिक पहलू पर निष्पक्ष विचार नहीं रख सकते। भारतवंशियों को इस प्रकार देखा गया**

जैसे वे राजनीतिक उत्तरदायित्व के सर्वथा अयोग्य हैं। दरअसल, अज्ञानवश या फिर जानबूझकर भारतीय विचारकों को या राजनीतिक दार्शनिकों की उपेक्षा की गई है।"

पश्चिम विद्वानों की भारतीय राजनीति के बारे में भ्रमपूर्ण बातें इसलिए भी निराधार साबित हो जाती हैं कि प्लेटो और अरस्तू से शताब्दियों पहले ही भारतीय राजदर्शन की नींव पड़ चुकी थी। यही नहीं, भारतीय राजनीतिक दर्शन का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितनी यहाँ की सभ्यताएँ, संस्कृति और धर्म आदि है। प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिंतन के महत्वपूर्ण स्रोत प्लेटो की रचनाएँ–"रिपब्लिक", "स्टेट्समैन" तथा "लॉज" मानी जातीं है तथा अरस्तू की रचना "पॉलिटिक्स" मानी जाती हैं तो इसी के साथ ही भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोत वैदिक साहित्य, जैन एवं बौद्ध साहित्य, कौटिल्य का 'अर्थशात्र', कामन्दक का 'नीतिसार', शुक्राचार्य की 'शुक्रनीति', रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजशास्त्र से संबंधित कई श्लोक उपस्थित हैं। ज्ञान–विज्ञान ही नहीं, अपितु राजनीति के मामले में भी भारत किसी भी देश से कमतर नहीं रहा है। जिस तरह यूनानी विद्वान अरस्तू के राजनीतिक विचारों को महत्वपूर्ण समझते हैं, उसी तरह भारत में अरस्तू के समकालीन भारतीय राजनीतिक चिन्तक कौटिल्य का अपना एक विशेष महत्व है। मैक्सी तो यहाँ तक कहता है कि **"भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के इतिहास से भी अधिक प्राचीन है।"** जबकि गैटिल भी भारतीय साहित्य में राजनीतिक दर्शन की महत्ता को स्वीकार करता है और इसे ज्ञान की एक पृथक शाखा मानता है।

☛ <u>**विशेष**</u>

राजशास्त्र पर पृथक ग्रन्थ ढूंढ़ने का प्रयत्न

- पाश्चात्य विद्वानों के भ्रम का एक मुख्य कारण यह भी था कि वे प्राचीन भारतीय वाङ्मय में से राजशास्त्र पर पृथक् ग्रंथ ढूँढने लगे थे, जबकि वास्तविकता यह थी कि नीतिशास्त्र अथवा राजशास्त्र (राजधर्म) उस सार्वभौमिक और व्यापक धर्म का अंश था जो व्यक्ति, समाज और राज्य सभी के कार्यकलापों का नियमन करता था। बीसवीं शती में कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र के प्रकाशन के पश्चात् यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि राजत्व, राजनय, राजनीति आदि का अध्ययन प्राचीन भारत में एक विशेष विषय के रूप में महत्व होता था। प्राचीन काल से ही भारत में राज्य एक वृहद समाज का अंग समझा जाता था। प्राचीन भारतीय विचारकों ने जीवन एवं जगत् के सर्वांग का विचार कर उसके अनुरूप शास्त्र और व्यवस्थाओं का नियमन किया। यही कारण है कि भारत में व्यापक चिन्तन एवं शास्त्र प्रणीत हुए। वैदिक वाङ्मय पुराण, जैन एवं बौद्ध साहित्य, धर्मशास्त्र, नीति–शास्त्र, अभिलेख मुद्राएँ आदि राजत्व सम्बन्धी भारतीय विचारों के आधार एवं आकार ग्रंथ माने गए हैं।

राजदर्शन और नाम की समस्या

- पश्चिम के विद्वानों को भारतीय राज व्यवस्था पर सवाल उठाने का मौका इसलिए भी मिल जाता है क्योंकि प्राचीन भारत में इस विषय को दूसरे नामों से जाना–समझा गया। महाभारत के 'शांतिपर्व' में इसे राजधर्म की संज्ञा दी गई तो अन्य जगह यह दण्डनीति, नीतिशास्त्र या फिर अर्थशास्त्र आदि नामों के रूप में आया।देखा जाये तो प्राचीन भारत में राज–शासन का ही अधिक महत्व था। राजाओं के अपने नियम–कानून और कर्तव्य थे, इन्हें ही राजधर्म कहा जाता था। वर्तमान परिभाषाओं में भी देखें तो राजशास्त्र का मतलब राज्य और शासन के अध्ययन में ही समाहित हैं, इसलिए राजधर्म को भी राजशास्त्र ही समझना अधिक उचित होगा। प्राचीन भारत में एक और शब्द 'दण्डनीति' आता है। इसका सम्बन्ध भी शासन के कार्यों अथवा शासन तन्त्र से ही रहा। इसे

'प्रशासन का शास्त्र' भी कहा गया। कौटिल्य का मानना है कि मनु, वृहस्पति और शुक्राचार्य द्वारा वर्णित चार विद्याओं में से दण्डनीति एक है। प्राचीन भारतीय विचारकों का मानना था कि प्रभुसत्ता ही राज्य का आधार है। इसलिए भारतीय विचारक मानते थे कि बिना दण्ड के किसी प्रकार के राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। दण्डनीति का समर्थन करते हुए मनु कहते हैं कि **"जब सभी लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड उनकी रक्षा करता है। उसी के भय से लोग न्याय का मार्ग अपनाते हैं।"** शन तथा प्रजापति द्वारा शासनतन्त्र पर लिखित ग्रंथ भी 'दण्डनीति' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

- प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र को राजशास्त्र के अन्तर्गत माना गया है। विद्वानों में विभ्रम की एक वजह यह भी हमेशा बनी रही। वर्तमान समय में अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग आमतौर पर धन व अर्थ सम्बन्धी अध्ययन के लिए किया जाता है जबकि कौटिल्य का मानना है कि 'अर्थ' शब्द से जिस तरह मनुष्य के व्यवसाय व धंधे का आशय निकलता है, ठीक उसी तरह वे जिस भूमि पर रहकर व्यवसाय चलाते हैं उससे वह भूमि भी सम्बोधित हो सकती है, इसलिए भूमि को प्राप्त करने व उसका पालन करने का जो साधन है, उसे भी अर्थशास्त्र कहना पर्याप्त उचित होगा। अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र अथवा दण्डनीति के ही अर्थ में लिए जाने की एक और भी वजह रही क्योंकि राज्य व शासन के विषय पर प्राचीन भारत में लिखा गया सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र के नाम से ही जाना गया। शुक्रनीति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल धन–सम्पत्ति प्राप्त करने के उपायों का विवेचन करना ही नहीं, बल्कि शासक शास्त्र के सिद्धान्तों को भी प्रस्थापित करता है। अमरकोश में भी अर्थशास्त्र और दण्डनीति को समानार्थक माना गया है। हालांकि 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अध्याय पर गौर करें तो प्रतीत होता है कि कौटिल्य 'दण्डनीति' को ही महत्व देता है और उसे यही नाम प्रदान करना चाहता है।

● छात्र क्रियाकलाप

1. चिन्तन के आशय को समझाइए।

2. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

3. भारतीय चिन्तन के दोषों का उल्लेख करो।

4. चिन्तन के विविध नामों पर चर्चा कीजिए।

5. चिन्तन के महत्व पर प्रकाश डालिए।

● सारांश

- प्राचीन भारतीय विचारक राजनीतिक परम्परा में मील का पत्थर है इनके जीवन काल में विषय में और इनकी अवधारणाओं में सत्यता की झाँकी देखने को मिलती है।
- ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें शासन विभिन्न अंगों को संदर्भित किया गया है।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में निहित ही राजनीतिक परम्परा के सिद्धान्तों का जिस तरह से प्रतिपादन मिलता है। वह नैतिक और दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही विद्यमान है।
- भारतीय परम्परा की प्राचीन अवधारणाओं को राजनीतिक परम्परा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जिसमें सामाजिक विश्लेषण की पद्धति व राजनीतिक परम्परा का अध्ययन निश्चित रूप से हो जाता है।
- भारतीय चिन्तन की धारा के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था राज प्रशान की प्रक्रिया में ही सम्मिलित की गयी है व राज्य के अनुसार उपनिवेशवाद और समाज सुधार के तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किये गये हैं।
- राष्ट्रवाद की संकल्पना प्रारूपित रूप में प्रस्तुत करते हुए राज्य व्यवस्था का भी समर्थन किया गया है।
- राजनीतिक परम्परा और उसके विश्लेषण मानवादी चिन्तन की धारा के अर्न्तत प्रस्तुत किये गये हैं।

● अभ्यास प्रश्न

1. राजनीति–चिंतन की सामान्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए?
2. आध्यात्मिकता की ओर झुकाव की व्याख्या कीजिए?
3. राजतंत्र की प्रधानता के मुख्य–मुख्य मान्याताएं को स्पष्ट कीजिए?
4. राजनीति–चिंतन की मुख्य–मुख्य मान्यताएं को स्पष्ट कीजिए?
5. राजा के कर्तव्य क्या है?

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. "शुक्र" के अनुसार राज्य तथा शासन से संबंधित ज्ञान की शाखा का नाम है–?
   (अ) नृपशास्त्र (ब) नीतिसार
   (स) राजनीति (द) राजधर्म

2. **कथन (A):** प्राचीन ग्रंथों के अनुसार राज्य के कार्य मानव जीवन के समस्त अंगों तक फैले हुए थे !
   कारण (R): राज्यो को बुराई नहीं समझा जाता था।
   (अ) A और R दोनो सही है तथा R, A की सही व्याख्या है
   (ब) A और R दोनो सही है परन्तु R, A की सही व्याख्या नही है
   (स) A सही है किन्तु R गलत है
   (द) A गलत है किन्तु R सही है

3. निम्नलिखित में से कौन सी इकाई प्राचीन भारत में राज्य प्रशासन से संबंध थी–?
   (अ) जनपद (ब) भुक्ति
   (स) नगर (द) उपरोक्त सभी

4. प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था का सामान्य रूप क्या था?
   (अ) राजतंत्र (ब) कुलीनतंत्र
   (स) लोकतंत्र (द) अल्पतंत्र

5. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतकों के अनुसार धर्म का अर्थ है?
   (अ) परंपरा तथा विधि (ब) कर्तव्य
   (स) समग्र संबंध (द) उपरोक्त सभी

6. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य की उत्पत्ति विषयक सिद्धांतों में निम्न में से किसका उल्लेख नहीं मिलता?
   (अ) देवी उत्पत्ति का सिद्धांत (ब) शक्ति सिद्धांत
   (स) सामाजिक अनुबंध सिद्धांत (द) विकासवादी सिद्धांत

7. कौटिल्य का मंडल सिद्धांत किससे संबंधित है?
   (अ) प्रशासन (ब) विदेश नीति
   (स) आर्थिक नीति (द) न्यायिक नीति

8. कौटिल्य के अनुसार "वार्ता" ज्ञान की वह शाखा है जिसका संबंध?
   (अ) धन के उत्पादन से है (ब) प्रजा के कर्तव्य से हैं
   (स) राज्य की कर्तव्य है (द) मोक्ष से हैं

9. निम्नलिखित में से कौन सा मंडल का अंग नहीं है?
   (अ) अरि (ब) मित्र
   (स) सामंत (द) विजिगीषु

10. "दंडनीति संसार को नियंत्रण में रखती है यह समस्त बुराइयों को नष्ट करती है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को नष्ट करता है।" उपरोक्त विचार व्यक्त किया गया है?

(अ) अर्थशास्त्र में (ब) महाभारत में

(स) रामायण में (द) मनुस्मृति में

11. निम्नलिखित में से कौन–सा प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा प्रतिपादित राज्य के "सप्तांग सिद्धांत" के सात अंगों में नहीं है?

(अ) स्वामी (ब) पुरोहित

(स) पुर (द) कोष

उत्तरमाला

1. (ब) 2. (अ) 3. (अ) 4. (अ) 5. (अ) 6. (ब) 7. (ब) 8. (अ) 9. (स) 10. (द)
11. (ब)

❑❑❑

इकाई

2

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोत तथा अध्ययन में कठिनाइयाँ

(SOURCES AND DIFFICULTIES IN THE STUDY OF ANCIENT INDIAN POLITICAL THOUGHTS)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्त्रोत
- राजनीतिक चिंतन में उत्पन्न कठिनाइयां
- सारांश
- अभ्यास प्रश्न
- बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगे:

➡ राजनीतिक चिंतन के स्त्रोतों को।

➡ ब्राह्मण, जैन व बौद्ध साहित्य स्त्रोतों को।

➡ अभिलेख व सिक्कों से प्राचीन शासन पद्धति का अध्ययन

● प्रस्तावना

कई पाश्चात्य विचारकों की मान्यता है कि प्राचीन भारतीयों की इतिहास लेखन में रूचि नहीं थी, लेकिन यह पूर्णतः गलत सिद्ध हुआ। वस्तुतः उनकी इतिहास विषयक अवधारणा आज के संदर्भ में सर्वथा भिन्न दिखायी पड़ती थी। भारतीय लेखन में आख्यान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, वंश विस्तार आदि अनेक विषयों का **समावेश** साफ–साफ दिखायी पड़ता है। उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण अधिक था इसलिए भौतिक घटनाओं के लेखे–जोखे. का महत्त्व अलग से नहीं पहचाना गया। इसे साहित्य में एक 'सामुहिक दृष्टिकोण' का नाम दिया गया। भारतीय राजनीतिक चिंतन के विषय में जानने के लिए हमारे पास विश्व का सबसे विशाल साहित्य है, जो हमारी सांस्कृतिक धरोहर भी है। परवर्ती काल में हमारी बहुत सी साहित्यिक सामग्री आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दी गयी थी जिस कारण वश भारतीय राजनीतिक चिंतन में कुछ कठिनाइयां भी उत्पन्न हुई।

7वीं शताब्दी में भारत का परिभ्रमण करने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उल्लेख किया है कि अच्छी बुरी घटनाओं का वृत्तांत लिखने के लिए एक अलग अधिकारी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में उपस्थित था। कल्हण ने भी इस विषय में लिखा है कि **"वही गुणवान कवि प्रशंसा का पात्र है जो रागद्वेष से ऊपर उठकर एकमात्र सत्य निरूपण में ही अपनी भाषा का प्रयोग करता है।"** निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीयों में राजनीतिक इतिहास के प्रति अभिरूचि एवं चेतना दोनों विद्यमान थी, राजनीतिक इतिहास को वे एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते थे। प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त करने के प्रचुर स्रोत हमारे पास उपलब्ध दिखायी पड़ते हैं।

● प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्त्रोत

प्राचीन भारतीय चिंतन के स्त्रोत विद्यमान है। जिसमें मुख्यत: साहित्य जैसे वेद, पुराण, धर्मसूत्रों व बौद्ध जातक जैसी कथाएँ सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त समय-समय पर विभिन्न विद्वानों की रचनाएँ जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कांमदकीय नीतिशास्त्र ने भी इसमें अहम योगदान दिया है। इसी समय अनेक शासकों के शासन काल में आए। विदेशी मेहमानों ने राज्य का न केवल भ्रमण किया अपितु व्यापक सामयिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक विश्लेषण कर तत्कालीन समय को अपने ग्रंथों द्वारा विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी के साथ राजनीतिक इतिहास में संस्कृत के विद्वानों के ग्रंथ भी महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। डा० जय सवाल का कथन इस विषय पर अत्यंत प्रासंगिक प्रस्तुत होता है जो निम्नवत् है– **"हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन हिन्दू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत सी बातें प्राप्त होती हैं। सौभाग्य से इस हिन्दू राजनीतिक शास्त्र के कुछ मूल ग्रंथ भी उपलब्ध हैं।"**

प्राचीन भारतीय राजनीति चिंतन के स्त्रोतों को मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

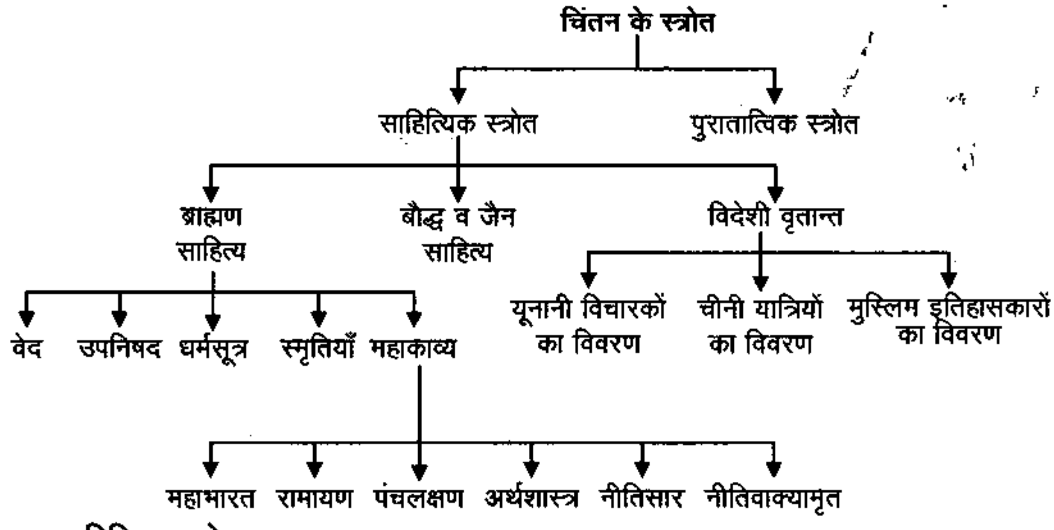

साहित्यिक स्त्रोत

इसके अन्तर्गत प्रथमत: देशी साहित्य का विवेचन अपेक्षित होता है। जिसको हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं – धार्मिक साहित्य व धर्मेत्तर साहित्य। धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत 'ब्राह्मण साहित्य' का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। ब्राह्मण–धर्म ग्रन्थों में वेदों को 'श्रुति' और अन्य बाद के धर्म–ग्रन्थों को 'स्मृति' कहा गया। धर्मसूत्र व स्मृति आदि ग्रन्थों को धर्मशास्त्र भी कहा जाता है। इसी धर्मशास्त्रीय परम्परा में पुराणों की रचना हुई।

ब्राह्मण साहित्य

(i) वेद: ब्राह्मण साहित्य में सबसे प्राचीन वेद आदि ग्रन्थ हैं – जिसमें चारों वेदों की संहितायें, बाह्मण–ग्रन्थ आरण्यक व उपनिषदों को सम्मिलित करते हुए वैदिक साहित्य नाम दिया गया। राज्य शास्त्र के ग्रन्थ नहीं होने पर भी वैदिक वांगमय में इधर–उधर कतिपय ऐसे छुट–पुट उल्लेख मिलते हैं जिनसे तत्कालीन राज्य शास्त्र व व्यवस्था का थोड़ा परिचय मिल जाता है। ऋग्वेद (रचना काल लगभग 1500 ई.पू. से 1000 ई.पू.) में राज्य शास्त्र विषयक उल्लेख बहुत कम हैं, किन्तु उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य (रचनाकाल लगभग 1000 ई.पू. से 500 ई.पू.) के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में मुख्यतः प्रार्थनायें हैं, किन्तु उत्तरवैदिक रचनाओं में प्रार्थनाओं के साथ कर्मकाण्डों का भी समावेश दिखायी देता है। अतएव ई.पू. लगभग 1000 से लेकर 500 तक के काल की राज्य व्यवस्था का चित्र तैयार करने के लिए यह आवश्यक है कि उक्त कर्मकाण्ड की छानबीन विवेकपूर्ण अथवा सावधानी से कर उपयोगी सामग्री संकलित की जाये ताकि भारतीय राजनीतिक चिंतन के अध्ययन में ये उपयोगी सिद्ध हो सकें।

अथर्ववेद का अपना विशेष महत्त्व है। इसमें कर्मकाण्ड का प्राबल्य नहीं है तथा इसमें वशीकरण, जादू–टोना, आदि के अलावा बीमारी एवं विपत्तियों से बचाव, राजपद पुनः प्राप्त करने के लिए व अन्यान्य इसी प्रकार की मनोकामनाओं को पूरा करने के लिए इतने मंत्र दिये गये हैं कि उनसे तत्कालीन राज्य व्यवस्था पर, विशेषतः राजा के सम्बन्ध में, पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। ब्राह्मण–ग्रन्थों में राज्याभिषेक तथा राज्यारोहण या उसके बाद किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन स्थान–स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। वहां इनके साथ–साथ राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी कुछ व्याख्यायें व परिकल्पनायें प्रस्तुत की गयी, जो मुख्यतः ऐतरेय ब्राह्मण व शतपथ ब्राह्मण में पायी जाती हैं।

(ii) उपनिषद: उपनिषदों को तत्त्व–चिन्तन विषयक ग्रन्थ माना गया है, किन्तु राजा की उत्पत्ति एवं ऐसी ही अन्य समस्याओं पर उनमें कोई विचार उपलब्ध नहीं होते। तथापि उनमें राजा की आवश्यकता और महत्त्व के कारणों पर कुछ प्रकाश डाला गया है। संक्षिप्तः में कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में राज्य और शासन व्यवस्था की जानकारी देने वाले प्रसंग कम ही उपलब्ध हैं। इनमें यत्र–तत्र राजा के कर्तव्यों, राज्य कर्मचारियों, राष्ट्र व राज्य, राज्य के विभिन्न प्रकारों (वैराज्य, स्वराज्य, भौज्य आदि), सभा एवं समिति तथा तत्कालीन राजनीति आदि के सम्बन्ध में पूर्णतः परिचय प्राप्त होता है।

(iii) धर्मसूत्र: वैदिक साहित्य में प्रार्थनाओं एवं कर्मकाण्डों का बाहुल्य है, उनमें से राज व्यवस्था सम्बन्धी तथ्यों को अलग करना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु धर्मसूत्रों अर्थात लगभग 500–200 ई.पू. के दौरान गद्य में रचित प्राचीनतम विधि ग्रन्थों के साथ यह कठिनाई दिखायी नहीं देती है। प्रमुख धर्मसूत्र आपस्तम्ब, बौधायन, गौतम एवं वसिष्ठ हैं। बौधायन धर्मसूत्र से पता चलता है कि राजा प्रजा से छठा भाग कर के रूप में लेता था व प्रजा की रक्षा करना उसका कर्तव्य था। धर्मसूत्रों में राजा व चतुर्वर्णों के कर्तव्यों का प्राचीनतम विवेचन है और कराधान तथा सम्पत्ति, परिवार और व्यक्ति की रक्षा सम्बन्धी सबसे पुरानी व्यवस्था का निर्देशन करता है। वस्तुतः राज व्यवस्था से सम्बन्धित ब्राह्मणवादी मत का व्यवस्थित प्रतिपादन सर्वप्रथम इन्हीं से प्राप्त हुआ। इनमें जो चित्र उपस्थित किया गया है वह वास्तविक कम बल्कि आदर्श स्थिति का द्योतक अधिक है। गौतम एवं आपस्तम्ब धर्मसूत्रों में युद्ध तथा युद्ध की नैतिकता के विषय में भी चर्चा मिलती है। पराजित शत्रु के प्रति विजेता राजा के व्यवहार के विषय में गौतम का कहना है कि वह उसकी सम्पत्ति का अधिकारी है। उसके अंतर्गत आने वाले समस्त कार्यों का निर्वाहन उसी के द्वारा किया जाता है।

धर्मसूत्रों को धर्मशास्त्र भी कहा गया है व धर्मशास्त्र की संज्ञा स्मृतियों और इन प्राचीन विधि ग्रन्थों पर सभी प्रकार की टीकाओं को भी दी गयी है। इन ग्रन्थों को धर्मशास्त्र कहे जाने के कारण यह स्वाभाविक है कि इनमें धर्म का विशेष महत्त्व दिया गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म शब्द का अर्थ व्यापक माना गया है।

(iv) स्मृतियाँ: समाज में व्यवस्था की स्थापना करने के लिए धर्म की, धर्म की अवतारणा करने के लिए दण्ड की, और इसी प्रकार दण्ड क उचित प्रयोग करने के लिए राजा की आवश्यकता बतायी गई। जिस कारणवश विभिन्न स्मृतिकारों ने 'राजधर्म' की विवेचना के अन्तर्गत स्मृतियों में राजशास्त्र से सम्बन्धित अनेक बातों की चर्चा की है और पश्चात्कालीन लेखकों ने भी स्मृतियों में उपनिषद्ध (समाहित) परम्पराओं को स्वीकार किया। धर्मशास्त्र के रूप में ज्ञात स्मृतियों का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य यह बताना है कि किस प्रकार चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) की प्राप्ति मनुष्य द्वारा की जा सकती है। इसका मार्गदर्शन कराते हुए स्मृतियों ने सामाजिक, राजनैतिक व विधि–संबंधी विषयों का वर्णन भी किया है और प्रासंगिक रूप से राज्य तथा शासन–व्यवस्था से सम्बन्धित बातों की भी चर्चा की है। अतएव इस प्रकार स्मृतियों में हमें दण्ड की आवश्यकता, आदर्श राजा तथा उसके दायित्वों व अधिकारों, मंत्री, सचिव, अमात्य, पार्षद एवं सभ्य नामक परामर्शदाताओं के स्थान और कर्त्तव्य; राज्य एवं सामाजिक व्यवस्थाय राज्य के विभिन्न अंग; अंतःराज्य सम्बन्धों आदि की जानकारी प्राप्त होती है। सबसे बढ़कर तो इन स्मृतियों से हमें 'व्यवहार' अर्थात् न्यायतंत्र की जानकारी पूर्णतः उचित रूप में मिलती है तथा यह ज्ञान होता है कि यह तंत्र किस प्रकार की विधियों अर्थात् कानूनों से काम लेता था। स्मृतियां अनेक मानी गयी हैं। प्रमुख स्मृतियों के रूप में ज्ञात आरंभिक स्मृतियों में मनु एवं याज्ञवल्क्य की व परवर्ती स्मृतियों में नारद, बृहस्पति, कात्यायन आदि की स्मृतियाँ उल्लेखनीय मानी गयी हैं। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में प्रायश्चितों एवं आचारों की भी व्यवस्था प्रायः दृष्टिगोचर है। इन व्यवस्थाओं को आधुनिक दृष्टि से विधि नहीं कहा जा सकता; परन्तु नारद, बृहस्पति और कात्यायन की स्मृतियाँ प्रायः पूर्ण रूप से विधिग्रन्थ हैं। जो आधुनिक राजनीतिक में भी अपना योगदान देती प्रतीत होती हैं।

(अ) महाकाव्य: स्मृतियों के अंश महाकाव्यों और पुराणों में मिलते हैं। सामाजिक व राजनीतिक विचारों और संस्थाओं के अध्ययनार्थ महाकाव्यों – रामायण और विशेषतया महाभारत में पर्याप्त जानकारी दृष्टिगोचर होती है।

महाभारत: 'महाभारत' से प्राप्त सामग्री का उपयोग किसी एक काल के लिए करना कठिन है। जहां इसके आख्यानात्मक अंश से दसवीं शताब्दी ई.पू. की झाँकी मिलती है, वहीं इसके उपदेशात्मक तथा वर्णनात्मक अंशों का सम्बन्ध काफी परवर्ती काल से, यानी ईसा की चौथी सदी से मालूम दिखाई पड़ता है। मूलतः इस महाकाव्य में 8800 श्लोक थे तथा यह रचना 'जय' कहलाती थी। फिर वे बढ़कर 24 हजार हुए तथा रचना का नाम 'भारत' पड़ा। बाद में बढ़कर वे एक लाख हो गये व यह ग्रन्थ 'महाभारत' कहलाया। गुप्तकालीन अभिलेखों में एक लाख का उल्लेख मिलता है, यद्यपि समीक्षित संस्करण में अभी प्रायः 82 हजार श्लोक ही प्राप्त हुए हैं। जैसा कि महाभारत (आदि पर्व) में कहा गया है, यह एक धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र व कामशास्त्र है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ इसमें है वही अन्यत्र भी दिखाई देते है। वस्तुतः इसमें राज्य और शासन से सम्बन्धित विचारों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। 'सभा', 'शांति' और 'अनुशासन' – ये तीन पर्व राजनीतिक विचारों तथा व्यवहारों के इतिहास के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। निस्संदेह 'शांतिपर्व' का 'राजधर्म' प्रकरण हमारे प्रयोजन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। इसमें सूक्ष्मता के साथ राज्यशास्त्र के अनेक विषयों का क्रमिक

वर्णन मिलता है। यहां 'मनुस्मृति' से मिलते–जुलते अनेक श्लोक हैं; विशेषकर राजा की दैवी उत्पत्ति, ब्राह्मणों के दावे (अधिकार) और दंड के महत्त्व के सम्बन्ध में यह प्रकरण मुख्यतः उपदेशात्मक है, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'शांतिपर्व' में ईस्वी सन् की प्रथम और चौथी शताब्दियों के बीच किसी समय सन्निविष्ट किया गया। अतएव, उत्तरवैदिक काल या वेदोत्तर काल की राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए शांतिपर्व की सामग्री का उपयोग करना पूर्णतः गलत सिद्ध होगा। जहां तक इसमें वर्णित राज्य का सप्तांग सिद्धांत, राजा के अधिकार, कर्त्तव्य, मंत्रिपरिषद् का गठन, युद्ध नियम, कर के स्रोत व सिद्धान्त आदि का सम्बन्ध है, ये सभी ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों की परिस्थितियों के द्योतक माने गये है। राजत्व की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पना 'शांतिपर्व' के 'राजधर्म' प्रकरण का सर्वाधिक उर्वर और मौखिक अंश माना गया है। इस परिकल्पना से ब्राह्मणवादी (ग्राह्य) दृष्टि से राजपद के औचित्य को बुद्धिपूर्वक सिद्ध करने का प्रथम प्रयास किया गया व इसके अतिरिक्त; राज्य के स्वरूप, राज्यों के विभिन्न प्रकार (यथा–अराजक, राज्य, कुल राज्य, गण और संघराज्य), उनकी विशेषतायें, कार्यवाही की प्रणाली, द्वादश राजमण्डल, षाड्गुण्य, नीति के चार उपाय (साम, दाम, दण्ड व भेद) गुप्तचर, दूत प्रणाली, दण्डनीति का स्वरूप और महत्त्व, न्याय व्यवस्था, सैनिक व्यवस्था आदि के बारे में भी महाभारत से महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुयी। महाभारत से प्राप्त सूचना के सम्बन्ध में कुछ सावधानी भी अपेक्षित है, जैसे – महाभारत में कभी–कभी एक ही विषय पर विरोधी बातें दिखायी देती है। इसका संभव कारण यह है कि इसकी रचना किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा नहीं की गयी है। यह एक क्रमशः विकसित, परिवर्धित और संशोधित महाकाव्य है। जिसे अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण करने में कई शताब्दियों, संभवतः 400 ई.पू. से 400 ई. तक (लगभग 1 हजार वर्ष) का समय लगा।

रामायण: दूसरा महाकाव्य 'रामायण' न तो उतना विशाल दिखायी पड़ता है और न हमारे अध्ययन के लिए उतना उपयोगी ही। ईस्वी सन् के प्रारंभिक काल में लिखे कुछ जैन और बौ) ग्रन्थों में इसके श्लोकों की संख्या 12 हजार बतायी गयी व गुप्तकाल तक यह संख्या 24 हजार हो गयी, जो आज भी कायम है। इसके वर्ण्य विषयों में से जो बात हमारा ध्यान अत्यंत आकृष्ट करती है, वह है 'अराजक' (राजा रहित) राज्य का वर्णन। इसमें केवल 'नृपतंत्रात्मक शासन प्रणाली का ही वर्णन मिलता है तथा इसमें आनुवंशिक नृपतंत्र, ज्येष्ठ पुत्र के ही उत्तराधिकारी होने, राजा के कर्तव्यों, राज्य के अधिकारियों और राजनीतिक संस्थाओं, युद्ध आदि के बारे में भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष विवरण उपलब्ध होते हैं।

पंचलक्षण: 'पंच लक्षण' पुराण भी महाकाव्यों की कोटि के ही माने गये हैं। इनमें काफी उपदेशात्मक प्रकरण हैं, जिनमें राजा के अधिकारों व कर्तव्यों तथा अन्य सम्बद्ध विषयों की चर्चा है। प्रमुख पुराण 18 हैं। उनमें से अनेक जैसे कि 'विष्णु', 'वायु', 'मत्स्य' आदि पुराण गुप्तकाल तक पूरे हो चुके थे तथा ये गुप्तकालीन राजनीतिक संस्थाओं की वैचारिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं।

अर्थशास्त्र: धर्मसूत्र, स्मृतियां, महाकाव्य, पुराण आदि पूर्णतः ब्राह्मणवादी व धर्मशास्त्रीय परम्परा में लिखे गये ग्रन्थ हैं तथा इनका स्वरूप सैद्धान्तिक अधिक प्रतीत होता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में इनसे कुछ भिन्न परम्परा प्रस्तुत की गयी, जो अर्थशास्त्रीय परम्परा भी कहलाती है। कौटिल्य का यह ग्रन्थ अधिक व्यावहारिक व धार्मिक विचारों से कम प्रभावित दिखायी पड़ता है। यह अपने ढंग का अर्थात् अर्थशास्त्रीय परम्परा का प्राचीनतम और आधारभूत ग्रन्थ माना गया है। यह सबसे पहला ऐसा ग्रन्थ है जिसमें राजनीति की स्वतन्त्र रूप से चर्चा करते हुए, राज्य के सभी पहलुओं को विस्तृत सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है। राज्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ के लिए 'अर्थशास्त्र' नाम रूढ होने के सम्बन्ध में कौटिल्य का यह कहना है कि 'अर्थ' शब्द से जैसे मनुष्यों के व्यवसाय या धंधे दिग्दर्शित होते हैं, वैसे ही

जिस भूमि पर रहकर वे व्यवसाय चलाते हैं, वह भूमि भी संबोधित हो सकती है; इसलिए भूमि को प्राप्त करने व उसका पालन करने का जो शास्त्र है, वही अर्थशास्त्र है। कौटिल्य का यह नीतिशास्त्र विषयक सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अर्थशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध था, अतएव अर्थशास्त्र शब्द राजनीति शास्त्र के अर्थ में पूर्णतः रूढ़ हो गया था।

विशेष

- प्राचीन भारत से सम्बन्धित कदाचित् किसी भी प्रश्न पर इतना तीव्र विवाद नहीं हुआ जितना कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के रचना काल व उसकी प्रामाणिकता को लेकर हुआ है। अर्थशास्त्र के अंत में इसे नंदों का अंत करने वाले कौटिल्य की कृति बताया गया। इस आधार पर शामा शास्त्री, गणपति शास्त्री, स्मिथ, फ्लीट, जायसवाल आदि विद्वान इसे मौर्यकालीन (चौथी सदी ई.पू. की)(कृति बताते हैं। इसके विपरीत विण्टरनित्ज, जॉली, कीथ, भण्डारकर आदि इसे ईस्वी संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों से सम्बन्धित बताते हैं।

अल्तेकर आदि के अनुसार इसका अधिकांश भाग मौर्यकाल का ही है व बाद में इसमें कुछ संशोधन हुए। जो भी हो, किन्तु किसी भी दशा में 'अर्थशास्त्र' की सामग्री का उपयोग अकेले मौर्यकाल के संदर्भ में ही नहीं किया जा सकता अपितु इसका जो पाठ हमें अभी (वर्तमान में) उपलब्ध है, इसको देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि यह एक समय या स्थान पर लिखा गया समरूप पाठ है। पुस्तक का अधिकतर अंश ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक प्रचलित सूत्र शैली का अनुसरण करके गद्य में लिखा गया है। किन्तु इसका पद्य भाग बाद में सन्निविष्ट किया गया प्रतीत होता है।

इसकी शैली पर विचार करना तो भाषाविदों का काम है, परन्तु शैली के आधार पर पाठ के विभिन्न स्तरों को एक–दूसरे से अलग करना हमारे लिए उपयोगी एवं लाभप्रद भी होगा। जहां तक इसकी भाषा का प्रश्न है, अशोक कालीन प्राकृत और कौटिल्यकालीन संस्कृत का भेद तो स्पष्ट ही दिखायी पड़ता है। कौटिल्य ने जिन राजनीतिक संगठनों का उल्लेख किया है वे अशोक–कालीन अभिलेखों में निर्दिष्ट प्रणाली से पूर्णतः भिन्न हैं। कौटिल्य केन्द्रीकरण पर जोर देता है, तो उसके विपरीत अशोक विकेन्द्रीकरण पर। 'महामात्र', 'रज्जुक', 'प्रादेशिक', 'प्रतिवेदिक' आदि अशोक–कालीन विशिष्ट अधिकारियों का उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में दृष्टिगोचर नहीं है। अशोक के अभिलेखों में 'महामात्र' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत अर्थशास्त्र में मात्र उनके पद 'महामात्रीयम्' का केवल एक बार उल्लेख हुआ है, लेकिन उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

अशोक के काल के 'युक्त' नामक एक छोटे अधिकारी की जानकारी कौटिल्य को थी, लेकिन इससे कोई खास साक्ष्य प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार अशोक की 'आहार' नामक प्रशासनिक इकाई की चर्चा कौटिल्य ने नहीं की। दूसरी ओर 'अर्थशास्त्र' की कुछ राजस्विक व प्रशासनिक शब्दावली ईसा की पहली और दूसरी शताब्दियों के शासन अभिलेखों में भी मिलती है। 'भोग', 'प्रणय', 'विष्टि' और 'परिहार' (तथा वरदेय) दक्षिण व पश्चिम भारत के अभिलेखों में आये हैं और 'अर्थशास्त्र' में भी उल्लेखित हैं। इनमें से 'परिहार' शब्द – जिसका मतलब है अनुदत्त भूमि में करों की माफी – बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया। शक व सातवाहन अभिलेखों में इसका बार–बार प्रयोग दिखायी देता है। इसी प्रकार 'अमात्य' शक व सातवाहनकालीन पुरालेखों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी के रूप में प्रस्तुत हुआ व कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी वैसे ही स्थान पर आसीन है।

प्रस्तुत हुआ पुरालेखिक साक्ष्यों से ऐसा संकेत मिलता है कि कौटिल्य ४अर्थशास्त्र४ का कुछ अंश ईस्वी सन् की प्रथम दो शताब्दियों में संकलित हुआ तथा इस ग्रन्थ में उल्लिखित अनेक राजस्व स्रोत ईस्वी सन् की दूसरी सदी की वस्तुस्थिति को पूर्णतः प्रतिबिम्बित करते हैं।

आर्थिक प्रवृत्तियों पर जिन राजकीय नियंत्रणों का उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है उनसे कौटिल्य द्वारा सुझाये गये नियंत्रणों की आंशिक समानता को देखने से ४अर्थशास्त्र४ के दूसरे अधिकरण पर, जिसमें अध्यक्षों के कर्तव्यों का विवेचन है, किंचित वास्तविक मौर्य प्रभाव परिलक्षित पूर्णतः प्रतीत होता है।

यही बात तीसरे व चौथे अधिकरणों पर भी लागू हो जाती है, जिनमें दीवानी कानूनों व दंडविधान पर विचार किया गया है। जिन प्रकरणों में अंतःराज्य सम्बन्ध व युद्ध का विवेचन है वे काफी विकसित हैं तथा यह तय कर पाना बड़ा कठिन है कि उन्हें कहां स्थान दिया जाये। इसमें संदेह नहीं कि सैनिक शिविर के पर्याय 'स्कंधावार' शब्द को, अर्थशास्त्र के पहले अधिकरण में वही प्रमुख स्थान प्राप्त है जो सातवाहन–अभिलेखों में देखने को मिला है।

चूंकि 'अर्थशास्त्र' के सभी वर्ण्य विषय किसी एक काल से सम्बन्धित प्रतीत नहीं होते, इसलिए उनका संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना इतिहासकार के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होता। 15 अधिकरणों व 180 प्रकरणों में विभक्त इस ग्रन्थ में करीब–करीब सभी विषय समाहित हैं – जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति आदि। किन्तु इसके अधिकांश भाग में प्रशासनिक समस्याओं का विवेचन हुआ है। जिसमें राज्य के सात अंगों, राजा के प्रशिक्षण, कर्तव्यों व दोषों, अमात्यों और मंत्रियों की नियुक्ति तथा उनके कर्तव्यों, दीवानी व फौजदारी कानूनों के प्रशासन तथा शिल्पि संघों व निगमों का पूर्णतः विवेचन है। गणतंत्र एक पूरे अध्याय में वर्णित किया गया है। इसके अतिरिक्त, इस ग्रन्थ में अंतःराज्य सम्बन्धों के सिद्धान्तों का निरूपण व सैन्य संगठन का वर्णन भी किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार युद्ध जीता जा सकता है व जीते हुए क्षेत्र में लोकप्रियता पायी जा सकती है। परन्तु इसके वर्ण्य विषयों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राजसत्ता को अत्यन्त उच्च स्थान प्रदान किया गया तथा राजा को अनेक सामाजिक तथा आर्थिक दायित्व भी सौंपे गये हैं। वर्ण्य विषयों के आधार पर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को, आधुनिक अर्थों में, अर्थात् विशुद्ध रूप में राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक नहीं कहा जा सकता। यह पूर्णरूपेण प्लेटो के 'रिपब्लिक' या अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' जैसा भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके व्यावहारिक स्वरूप को देखें तो यह 'पॉलिटिक्स' से अधिक मिलता–जुलता लगता है। जिस प्रकार दोनों युनानी कृतियां विशद्ध रूप से राजनीतिविज्ञान के ग्रन्थ नहीं हैं, उसी प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र भी मात्र राजनीतशास्त्र की पुस्तक नहीं कही जा सकती। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इस ग्रन्थ का अच्छा–खासा भाग राजनीति से संबंधित है व इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कौटिल्य ने राजनीति को धर्म व नैतिकता के प्रभाव से मुक्त करने का सजग प्रयास किया। सच तो यह है कि राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने धर्म व नैतिकता को तिलांजलि देने का भी विधान प्रस्तुत किया।

इस प्रकार 'अर्थशास्त्र' केवल संपत्तिशास्त्र नहीं, वरन् दंडनीति का शास्त्र या कहें तो राजनीति विज्ञान का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कौटिल्य अपने ग्रन्थ में पांच स्कूलों (सम्प्रदायों) व तेरह अलग–अलग लेखकों के उद्धरण देता है, जिनसे पता चलता है कि राजनीतिशास्त्र उसके काल में पूर्णरूपेण सुस्थापित था। इनमें से कुछ लेखकों का उल्लेख 'शांतिपर्व' में भी देखने को मिलता है। यह खेद का विषय है कि कौटिल्य के पूर्ववर्ती लेखकों के ग्रन्थों का अभी तक पता नहीं चला है, और कौटिल्य ने जिन कुछ एक अंशों को उनके चिन्तन के रूप में प्रस्तुत किया है वे इतने थोड़े हैं कि उनसे कौटिल्य से पहले की

राजनीतिक मान्यताओं का कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभर पाता है तथापि कौटिल्य द्वारा पूर्वाचार्यों का उल्लेख भारतीय राजनैतिक विचारों की प्राचीनता को प्रमाणित भी करता दिखायी देता है। निश्चय ही कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययन के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है।

विशेष

- कौटिल्य कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् राजनीति के एक सम्प्रदाय के संस्थापक भी थे, जिस कारण उनका और उनके ग्रन्थ का परवर्ती काल में भी सम्मान होता रहा। वस्तुतः राजनीति के वाङ्मय में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण शास्त्र में पाणिनि के अष्टाधायी का है।
- कौटिल्य के विचारों की पुनरावृत्ति से मात्र इतना संकेत मिलता है कि उसकी विचारधारा की प्रतिष्ठा व प्रभाव परवर्ती काल में कायम रहा।

नीतिशास्त्र: 'नीतिसार' ग्रन्थ की वशेषता यह है कि 'इसमें शासन–व्यवस्था का जैसा संगोपांग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद के किसी ग्रन्थ में नहीं मिला है।' शुक्रनीतिसार की तिथि अत्यधिक विवादग्रस्त भी है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी रचना का समय आठवीं शती ई. से लेकर 19वीं शती ई. के बीच में रखा, किन्तु इस ग्रन्थ का संकलन 19वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ, इसके सम्बन्ध में बहुत से विश्वसनीय तर्क दिये प्रस्तुत हुए।

नीतिवाक्यामृत: सोमदेव सूरी की रचना 'नीतिवाक्यामृत' का भी प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययननार्थ उपयोग किया जाता रहा। इस ग्रन्थ की रचना का समय 11वीं शती के पूर्वार्ध में रखा गया। यद्यपि यह विषय भी विवादमुक्त नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से कई बातों में समानता रखने पर भी नीति वाक्यामृत में कुछ मौलिकता भी दिखायी दी। सोमदेव ने उस समय उपलब्ध सभी साहित्यिक कृतियों (यथा–कौटिल्य, मनु, भीष्म, बृहस्पति, कामन्दक आदि) का उपयोग यथा स्थान किया है। अतएव 'नीतिवाक्यामृत प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों व नीतिशास्त्रों के गंभीर तथा विवेकपूर्ण अध्ययन का फल है।' सोमदेव ने छोटे–छोटे वाक्यों व सूत्रों के रूप में अपने ग्रन्थ में विभिन्न विद्याओं, राज्य की उत्पत्ति, राजा का देवत्त्व, राजा की नियुक्ति, उत्तराधिकार का प्रश्न, राजा के कर्तव्य, मंत्रियों की आवश्यकता, उनकी योग्यता, न्यायालय, सैनिक प्रशासन, अन्तर्राज्य सम्बन्ध, दूत एवं चर–व्यवस्था आदि राज्य–व्यवस्था से सम्बन्धित विषयों की विस्तृत चर्चा की है।

धर्मशास्त्र साहित्य व अर्थशास्त्र में तुलना

धर्मशास्त्र–साहित्य धर्म का, और अर्थशास्त्र अर्थ का ध्यान रखकर लिखा गया, इसलिए इन दोनों विचारधाराओं के अंतर की ओर दृष्टिपात करना स्वाभाविक ही है। धर्मशास्त्रों का रूझान सामान्यतः ब्राह्मणों के अधिकारों को बढ़ा–चढ़ाकर बताने की ओर है, तथा इनमें उन विधानों पर जोर दिया गया है जिनसे सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का नियमन होता है। दूसरी ओर अर्थशास्त्र राजा के अधिकारों को सुप्रतिष्ठित करता है तथा उन विधानों पर जोर देता है जिनका उद्देश्य राजनीतिक तथा आर्थिक ढांचे का नियमन ही है। प्रथम प्रकार के साहित्य का रूप सैद्धान्तिक तथा दूसरे प्रकार का व्यावहारिक प्रतीत होता है। लेकिन दोनों के अंतर को इससे आगे ले जाना संभव नहीं है, क्योंकि दोनों वर्ण विभाजित समाज के बारे में एक सामान्य दृष्टि और आदर्श प्रस्तुत करते हैं व राजा को इसकी मर्यादा का रक्षक भी मानते हैं।

बौद्ध एवं जैन साहित्य

राज्य व्यवस्था व राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डाले तो प्रारंभिक पालि धर्म ग्रन्थ (त्रिपिटक) कुछ दूसरा ही अर्थात् भिन्न चित्र प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि उनका अंतिम रूप श्रीलंका में ईसा पूर्व पहली सदी में

निश्चित हुआ, फिर भी उनमें राजतंत्रों व गणतंत्रों के विषय में जो बातें या जानकारी उपलब्ध होती है उनका सम्बन्ध संभवतः बुद्धकालीन मगध व कोसल की वस्तुस्थिति से ही प्रतीत होता है। यही बात कदाचित् विभिन्न राज्यों व उनके आपसी सम्बन्धों के बारे में भी सही हो सकती है। परन्तु जहां तक राज्यों की शासन व्यवस्था के बारे में बात करे तो उन पर यकावत विश्वास करना भी उचित नहीं लगता। 'विनयपिटक' के 'महावग्ग' और 'चुल्लवग्ग' अंशों में बौद्ध धर्मसंस्था के गठन सम्बन्धी ढेर सारे आँकड़े प्रस्तुत किये गये तथा यह कहा गया है कि जिन नियमों–विनियमों द्वारा बौद्ध भिक्षओं का समष्टिगत आचरण शासित होता था वे बुद्धकालीन पूर्णतः गणराज्यों से लिये गये हैं।

यदि यूनानी विवरणों व पाणिनि का सहारा न लिया जाए तो मौर्यपूर्व गणतंत्रीय संस्थाओं के अध्ययन के लिए और कोई समसामयिक साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं। जातकों के आधार पर विद्वानों ने लिच्छवि संविधान का स्वरूप प्रस्तुत किया है, परन्तु अपने वर्तमान रूप में वे ईसापूर्व दूसरी सदी से पहले के नहीं ज्ञात होते हैं। 'जातक' प्रधानतः लोक कथायें ही हैं। इनमें राजा के कर्तव्यों, न्याय प्रशासन, वर्णों और जातियों तथा आर्थिक कार्यकलापों का पूर्णतः उल्लेख हुआ है।

इनके आख्यानात्मक अंश को और भी पहले की स्थिति की जानकारी का आधार बनाया जा सकता है, किन्तु ईस्वी सन् की पाँचवीं शती में श्रीलंका में संकलित इनकी टीकाओं का उपभोग शाक्य–संविधान की रूपरेखा तैयार करने के लिए कदापि नहीं किया गया। जैसे धर्मशास्त्र–साहित्य व उसकी टीकाओं में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार प्रारंभिक पालि पुस्तकों में प्रस्तुत किये गये ढांचे व परवर्ती टीकाओं द्वारा उसके ऊपर रचे गये ढांचे के बीच अन्तर है।

'दीघनिकाय' में, जिसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है, राजत्व या राज्य व समाज व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में क्रमबद्ध चिंतन का सबसे पहला उदाहरण यही प्रस्तुत होता है। दीघनिकाय को ईसापूर्व तीसरी सदी में रखा जा सकता है, जिससे प्रकट होता है कि राज्य के उत्पत्ति विषयक क्रमबद्ध सिद्धान्त तब प्रतिपादित हुए जब राज्य पूर्णतः सुस्थापित संस्था बन चुका था। 'महावस्तु' जैसे परवर्ती बौद्ध ग्रन्थ, जो ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के हैं तथा सधुक्कड़ी संस्कृत में लिखे गये हैं, राजत्व की उत्पत्ति विषयक मूल कथा को ही साज–संवार कर तथा परिवर्द्धित रूप में रखते हैं, जबकि मूल कथासूत्र ज्यों का त्यों ही रह जाता है।

राजनीति के सिद्धान्त निरूपण करने वाले कतिपय प्राचीनतम जैन ग्रन्थों में भाषा वैज्ञानिक तथा साहित्यिक दृष्टि से 'उत्तराध्ययनसूत्र' सबसे पुराना ग्रन्थ माना गया है। जैन आगमों के पद्यों में अन्योक्तियों, उपमाओं व कथोपकथनों के रूप में जिन विषयों का वर्णन हुआ है उनमें से कुछ की चर्चा में से कुछ एक प्रतिरूप जातकों और 'शांतिपर्व' में भी मिलते हैं। इस प्रकार के साहित्य में हम प्रशासन पद्धति सम्बन्धी प्रासंगिक उल्लेखों को पूर्णतः यत्र–तत्र ढूंढ सकते हैं। आठवीं व नौवीं सदियों में संगृहित जैन पुराणों में सृष्टिकथा का वर्णन है, जिसमें राज्य तथा जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी अटकलें लगायी गयी हैं। इन कतियों में विशेष रूप से राज्य पर्व समाज का चित्र किंचित विस्तार से दिया गया है।

जैन आचारंगसूक्त में विभिन्न प्रकार के राज्यों का उल्लेख है। तथापि जैन धर्म के प्राकृत ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री प्रारंभिक राज्य व्यवस्था–विषयक आधुनिक पाठ्य पुस्तकों में कोई स्थान नहीं पा सकी। अभी तक जिस एकमात्र जैन ग्रन्थ का उपयोग इस प्रयोजन से हुआ है, वह है 'नीतिवाक्यामृत', जिसे ईस्वी सन् की दसवीं या ग्यारहवीं सदी में जैन ग्रन्थकार सोमदेव सूरि ने लिखा था।

किन्तु, यह ग्रन्थ उन पूर्ववर्ती ब्राह्मण–ग्रन्थों का बहुत अधिक ऋणी है, जिन्हें इसमें उद्धृत किया गया। यह नीतिसार की श्रृंखला में ही आता है और पूर्व मध्यकाल की राज्य व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ के रूप में इसका उपयोग अत्यधिक लाभदायक है। कहा जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति राजा के कर्तव्यों, अनृपतंत्रात्मक राज्यों व उनकी शासन व्यवस्था, उनकी कार्यवाही के तरीके, न्याय–प्रशासन और विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों के विषय में जैन और विशेषकर बौद्ध साहित्य से महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है।

विशेष

- देशी साहित्यिक स्रोतों के सर्वेक्षण में लगभग पाँचवी सदी ई.पू. के पाणिनि व्याकरण तथा लगभग दूसरी सदी ई.पू. के पतंजलि के महाभाष्य को सम्मिलित किया जा सकता है। पाणिनि के व्याकरण में बहुत-से ऐसे उदाहरणों का प्रयोग किया गया है जिनमें समसामयिक गणराज्यों का पूर्णतः उल्लेख हैं, व पतंजलि का महत्त्व इस रूप में है कि वह प्रकारान्तर से ही मौर्योत्तर काल की प्रशासनिक रीति पर प्रकाश डालता है। गुप्तकाल के सम्बन्ध में वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' का भी ऐसा उपयोग किया जाना सम्भव है। किन्तु ये कृतियां हमारे ज्ञान की पूरक मात्र ही कही जा सकती हैं।

विदेशी वृत्तांत

सामग्री के साहित्यिक स्रोतों का सर्वेक्षण तब तक पूर्ण नहीं होगा जब तक विदेशी (चीनी एवं यूनानी) विवरणों का हवाला न दिया जाये। इनमें प्रशासन पद्धति से संबंधित कतिपय महत्वपूर्ण तथ्य पूर्णतः विद्यमान हैं।

यूनानी विचारकों का विवरण

महान सिकन्दर का उल्लेख भारत के समसामयिक स्रोतों में नहीं मिलता दिखायी देता। पर उसके काल के यूनानी इतिहासकारों ने उसके भारतीय अभियान (ई.पू. 327–325) के विस्तृत ब्यौरे को प्रस्तुत किया।

यूनानी विचारकों को अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1.	सिकन्दर के पूर्व के विचारक	हीसियस, हैरोडोप्स, स्काइलेक्स
2.	सिकन्दर के समकालीन विचारक	ओनिसक्रेटिस, नियक्सि
3.	सिकन्दर के बाद के विचारक	मेगस्थनीज, टिखनी

1. **सिकन्दर के पूर्व के यूनानी विचारकः** इनमें मुख्यतः यूनानी सैनिक स्काइलेक्स था जिसने अपनी पुस्तक में भारतीय सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किया। हैरोडोप्स नामक यूनानी विचारक का मुख्यतः वर्णन भारतीय सीमावर्ती क्षेत्रों पर आधारित था।

2. **सिकन्दर के समकालीन विचारकः** इनमें अरिस्टोवुलस, निर्याकस, एरियन आदि प्रमुख थे तथा ये आक्रमण के समय सिकन्दर के साथ भारत आए तथा भारतीय समाज का अत्यधिक नजदीकी से अध्ययन किया। यही कारण है कि इनके विवरण को अधिक सटीक व प्रमाणिक माना गया है।

3. **सिकन्दर के बाद के विचारकः** इनमें मुख्यतः मेगस्थनीज, डायमेक्स, टिखनी आदि सम्मिलित हैं। मौर्यशासन प्रणाली का अध्ययन करने के लिए मेगस्थनीज का विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया।

यह पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में राजदूत के रूप में रहा। यद्यपि अभी तक उसकी मूल कृति 'इंडिका' प्राप्त नहीं हो सकी है, परन्तु परवर्ती लेखकों ने उसके जो छिटपुट उद्धरण दिये हैं उन्हें एरियन जैसे यूनानी लेखकों ने हर प्रसंग में इसे विश्वसनीय नहीं माना है, फिर भी एकमात्र उसी का विवरण ऐसा है जिसका काल निश्चित है। चूंकि 'अर्थशास्त्र' का काल निर्धारण संदेह से परे नहीं है, इसलिए मेगस्थनीज से दिये गये उद्धरण ही मौर्य साम्राज्य के संस्थापक के प्रशासन के विषय में हमारी जानकारी के अधिक निश्चित व प्रत्यक्ष स्रोत सिद्ध हुए हैं। इन उद्धरणों में राजा की दिनचर्या, पार्षदों के मुख्य कार्यों व साथ ही सिंचाई आदि कार्यकलापों पर नियंत्रण रखने वाले मजिस्ट्रेटों के प्रमुख दायित्वों का भी वर्णन प्रस्तुत है। इनमें पाटलीपुत्र का नगर प्रशासन तथा साम्राज्य के सैन्य संगठन का विवरण एवं साथ ही राजतंत्र के पतन तथा लोकतंत्री राज्यों के उत्थान से सम्बन्धित अनुश्रुतियां भी अभिलिखित हैं।

चीनी यात्रियों का विवरण

गुप्त एवं गुप्तोत्तर कालों की जानकारी के लिए चीनी यात्रियों के विवरण अत्यधिक उपयोगी हैं। यद्यपि फाहियान एवं ह्वेनसांग, दोनों भारत के बौद्ध धर्म की स्थिति का पता लगाना चाहते थे, परन्तु प्रशासन सम्बन्धी कई बातों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। फाहियान ने द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन काल में 399 से 414 ई. के बीच भारत की यात्रा की तथा अपने विवरण में उसने मध्यदेश, अर्थात् आधुनिक उत्तरप्रदेश तथा पश्चिमी बिहार, की शासन–प्रणाली की चर्चा की है। उसने राजा के परिचरों व अंगरक्षकों को वेतन देने की रीति भी बतलायी। किन्तु इस चीनी यात्री ने गुप्त राजा या गुप्त साम्राज्य के बारे में उस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं कहा है जिस प्रकार ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन के बारे में कहा है। ह्वेनसांग ने ईस्वी सन् 629 तथा 641 के बीच में भारत का भ्रमण किया। उसका विवरण अधिक विस्तृत और सुनिश्चित है। उसने अपने संरक्षक की शासन पद्धति की प्रशंसा भी की है तथा उसकी सैन्य शक्ति व अधिकृत क्षेत्र का विवरण बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत किया है। किन्तु फिर भी, ह्वेनसांग ही वह एकमात्र महत्त्वपूर्ण स्रोत है जिसके माध्यम से हर्षवर्धन की राजस्व व्यवस्था तथा सैन्य पद्धति की जानकारी प्राप्त होती है।

☛ **विशेष**

- इन विदेशी विवरणों के सम्बन्ध में यह धातव्य है कि यूनानी तथा चीनी भाषाओं से अनभिज्ञ रहने के कारण अधिकांश विद्वानों को अंग्रेजी अनुवादों पर निर्भर रहना पड़ता है जो अब से सौ वर्ष पुराने हो चुके हैं तथा उनमें विविधता भी पायी जाती है, अतएव उनका पुनरीक्षण नितांत आवश्यक हो गया है।

मुस्लिम इतिहासकारों का विवरण

भारत में इस्लामी आक्रमण के साथ मुस्लिम इतिहासकारों एवं यात्रियों के द्वारा भारतीय व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्राप्त हुआ। अल्वरूनी द्वारा रचित 'तहकीक एकहिन्द' तत्कालीन समय की राजपूत कालीन भूगाल, राजनीति समाज, धर्म व रीति–रिवाज आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त हुआ तथा अलमसऊदी की 'मजरूल जहान' आदि ग्रन्थ भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

पुरातात्त्विक स्रोत

पुरातात्त्विक परिवेश तथा सिक्कों व अभिलेखों के अध्ययन से हमें राजनीतिक संस्थाओं के सैद्धांतिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष का अत्यिधक पता चलता है। ये स्रोत साहित्यिक स्रोतों सम्बन्धी कठिनाइयों से भी अपेक्षाकृत मुक्त हैं। किसी देश व काल के पुरातत्त्व को उसके राजनीतिक ढांचे

के साथ बहुत परोक्ष रूप से ही जोड़ा जा सकता है। खेती के प्राचीन औजारों का पता पुरातत्त्व से ही पता चलता है। समाजशास्त्रियों का अनुमान है कि जिस समाज में ठीक से खेती न चल पाए, वहां की सरकार पांच लाख से अधिक लोगों पर शासन कदापि नहीं कर सकती है, यदि पुरातत्त्व के सहारे हमें स्थायी रूप से बसे ग्रामीण समुदायों या शहरी क्षेत्रों का पता चल जाए, तो इस ज्ञान की सहायता से हम साहित्य स्रोतों में विशाल व कुशल साम्राज्यीय संगठन की कल्पना को मर्यादित करके उन्हें तथ्यों के अधिक निकट ला सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि किसी काल में बड़े पैमाने पर नगरों के अस्तित्व का साक्ष्य मिलता है तो वह इस बात का संकेत होता है कि उस काल में नगर प्रशासन की आवश्यकता अवश्य ही थी। पुरातात्विक स्रोतों में अनेक वस्तुएँ निहित हैं जो निम्नवत् हैं।

अभिलेख

प्राचीन भारतीय अभिलेखों में अधिकांशतया दो लिपियाँ – **ब्राह्मी** एवं **खरोष्ठी** प्रयुक्त की गयी हैं व इन लिपियों का रूप भिन्न कालों में बदलता रहा है। सबसे पहले भारतीय अभिलेख सम्राट अशोक के दृष्टिगोचर हुए हैं। साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक शिलाखण्डों व स्तम्भों पर खुदे ये लेख सामाजिक, धार्मिक व प्रशासनिक आचरणों को विनियमित करने के निमित्त जारी किए गए राजकीय समादेश या उद्घोषणाएं ही हैं। ये सामान्यतः प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि में खुदे हैं पर कुछ अभिलेख खरोष्ठी लिपि और ग्रीक भाषा में भी पाये जाते हैं। अशोक के अभिलेखों से पूर्णतः स्पष्ट है कि वह एक विस्तृत साम्राज्य का शासक था। तत्कालीन परिस्थितियों में एक स्थान से इतने बड़े साम्राज्य का ठीक से शासन चला पाना पूर्णतः कठिन जिसे प्रशासकीय सुविधा के लिए इसे कई भागों में विभक्त किया गया था। अशोक की इन राजाज्ञाओं को धर्मलेख भी कहा गया है, लेकिन इनमें ऐसे विषयों का उल्लेख नहीं है जिन्हें विशुद्ध रूप से पूर्णतः धार्मिक कहा जा सके। इसके विपरीद इनके विषय ये बताए गए हैं– राजा और परिसा (परिषद) के आपसी सम्बन्ध, प्रांतीय शासन–व्यवस्था, न्याय प्रशासन, राजुकों (लाजुक) और महामात्रों जैसे उच्च पदस्थ राज्याधिकारियों के अधिकार एवं कर्त्तव्य, गुप्तचर विभाग, सैन्य–व्यवस्था, अशोक के राज्य सम्बन्धी विचार तथा राजा के पितृवत आदर्श। राजा का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह प्रजा का कल्याण ही अपना उद्देश्य समझे, तथा अपनी प्रजा को अपनी संतान की तरह समझकर, उसकी भलाई करे। अशोक के शब्दों में **"सब मनुष्य मेरी संतान हैं।"** उसके तेरहवें अभिलेख से यह स्पष्ट है कि विदेशी मामलों की देख–भाल से सम्बन्धित एक अलग विभाग उस समय उपस्थित था। दूतों का आना–जाना भी प्रचलित था। धर्म महामात्रों की नियुक्ति सर्वप्रथम अशोक ने ही, अपने राज्यकाल के चौदहवें वर्ष में सम्पन्न की थी। यद्यपि कौटिल्य अर्थशास्त्र में अशोककालीन अधिकांश अधिकारियों का उल्लेख नहीं है, किन्तु मेगस्थनीज व कौटिल्य की कृतियों से मोटे तौर पर जिस व्यापक राजकीय नियंत्रण को संकेत मिलता है, वह अशोक द्वारा अपने राजत्वकाल के प्रारंभ में जारी किये गये आदेशों से सामान्यतः उसकी पुष्टि होती है। मौर्योत्तर तथा गुप्तकालीन अभिलेख मौटे तौर पर गैर सरकारी तथा सरकारी, इन दो कोटियों के अंतर्गत ही आते हैं। गैर सरकारी अभिलेख मुख्यतः अनुदान लेख हैं, जो छोटे होने पर भी सामान्यतः दाताओं की सरकारी हैसियत का ही वर्णन करते हैं। ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों ही लिपियों में लिखे ये अभिलेख अपने काल के प्रशासन तंत्र पर पूर्णतः प्रकाश डालते हैं।

सरकारी अभिलेखों में कुछ प्रशस्तियां है, किन्तु सामान्यतः शासन पत्र या भूमि अनुदान पत्र भी उल्लेखित हैं। प्रशस्तियों में राजाओं की बहुमुखी उपलब्धियों का, उनकी विजयों, उनके द्वारा दिये गये

धार्मिक अनुदानों आदि का गुणगान है। इस कोटि में खारवेल का हाथिगुम्फा अभिलेख, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति आदि हैं। पहले में खारवेल के राजत्वकाल की वर्षवार घटनायें दी गयी हैं तथा उसकी शिक्षा, राज्यारोहण, सैनिक अभियानों तथा नगरीय और ग्रामीण लोगों (पौर जानपदों) पर किये गये उसके अनुग्रहों की चर्चा भी है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की वंशावली के बाद उन परिस्थितियों का उल्लेख है, जिनमें चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। इससे हमें विभिन्न कोटियों के उन राजाओं तथा गणों के साथ समुद्रगुप्त के सम्बन्धों की जानकारी भी प्राप्त होती है जिन्हें उसने जीत लिया था और जिनके साथ परिस्थितियों एवं उनकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार समकालीन अधीनस्थ सामन्तों तथा करदों जैसा विभिन्न प्रकार का व्यवहार किया जाता था।

किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कोटि के सरकारी अभिलेख वे भूमि अनुदान पत्र ही हैं, जिन्हें जारी करने का क्रम सबसे पहले सातवाहनों ने आरंभ किया था। वैसे ये अनुदान अधिकांशतः धार्मिक प्रयोजनों से दिये गये हैं, परन्तु इनमें राजस्विक एवं प्रशासनिक इकाइयों के उल्लेख भी मिले तथा राजस्व के स्रोतों का वर्णन भी है एवं जिन अधिकारियों को भूमिदान की सूचना दी गयी है उनके नाम भी इसमें सम्मिलित हैं। अशोक की राजकीय उद्घोषणायें मात्र एक–दो अधिकारियों को ही संबोधित हैं, जिनमें कुमार या आर्यपुत्र नामक प्रांतीय शासक तथा महामात्र नामक उच्चाधिकारी ही आते हैं। सातवाहनों के राजकीय शासन पत्र सदा अमात्यों को ही संबोधित करना प्रतीत होते हैं। गुप्तकाल से शासन पत्रों में उल्लिखित अधिकारियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी तथा पूर्व मध्यकाल में पाल राजाओं के शासन पत्र में इनकी संख्या तीन दर्जन तक पहुंच गयी थी। इन अभिलेखों में प्रयुक्त राजस्विक तथा प्रशासनिक शब्दों का अर्थ लगाना पूर्णतः आसान नहीं है, फिर भी ईस्वी सन् की प्रथम सदी से यही शब्द हमें कराधान और शासन पद्धति की जानकारी सुलभ कराने वाले एकमात्र विश्वसनीय स्रोत का काम करते दिखायी देते हैं। यदि गुप्तकालीन अभिलेखों का वाचन समकालीन स्मृतियों के साथ मिलाकर किया जाये तो इस काल की राज्य व्यवस्था का अच्छा–खासा चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जायेगा।

सिक्के

अभिलेखों के ही समान सिक्कों का भी, साक्ष्य के रूप में, अपना विशिष्ट स्थान माना गया है। प्राचीनतम भारतीय मुद्रा में, जिन्हें आहत मुद्रा कहते हैं तथा जो ईसापूर्व छठी सदी की बताई जाती हैं, राज्यव्यवस्था के अध्ययन में अधिक सहायक प्रतीत नहीं है। लेकिन मौर्योत्तर काल से ये सिक्के हमारे प्रयोजन के लिए उपयोगी बन जाते हैं। कुषाण कालीन सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से राजपद पर और विशेषतया उसके दैवी पहलुओं पर कुछ प्रकाश डाला गया है। अनेक कुषाण सिक्कों पर शिव की आकृति से धर्म तथा राजनीति का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट भी होता है। कुछेक समकालीन सिक्कों पर राजाओं के नहीं, वरन् कबीलों या जनजातियों के नाम ही उल्लेखित हैं, जैसे कि मालव व मौधेय, जिससे यह संकेत मिलता है कि ये पूर्णतः गणराज्य थे।

● राजनीतिक चिंतन में उत्पन्न कठिनाईयाँ

देशी साहित्य स्त्रोतों से प्राप्त साम्रगियों में अनेक कठिनाइयां भी दृष्टिगोचर हुयी। इसके अन्तर्गत **प्रथम कठिनाई** यह प्रस्तुत हुयी कि इनमें से किसी का आलोचनात्मक ढंग से सम्पादन सम्पन्न नहीं हुआ विशेषकर जैन धर्म का। किसी भी साहित्य हेतु आलोचनात्मक ढंग से उसका विवेचन किया जाना भी परमावश्यक है। अतः क्षेपकों–प्रक्षेपकों के कारणवश जनसामान्य के भ्रम में रहने की गुंजाइश सदैव बनी रहती है।

द्वितीय कठिनाई यह प्रस्तुत होती है कि ये ग्रन्थ अधिकांशतः उपदेशात्मक है जिस कारण प्रशासन पद्धति का सटीक पता लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

तृतीय कठिनाई यह है कि 'अर्थशास्त्र' जैसे ग्रन्थ के देश काल आदि के विषय में हम पूर्णतः निश्चितता के साथ वर्णन नहीं कर सकते।

● छात्र क्रियाकलाप

1. प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था को जानने के प्रमुख ब्राह्मण स्त्रोतों पर प्रकाश डालिए।

2. धर्मशास्त्र साहित्य तथा अर्थशास्त्र का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

3. प्राचीन भारतीय राजनीति के चिंतन में उत्पन्न कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।

● सारांश

- प्राचीन भारतीय राजनीति के अनेक स्त्रोत दृष्टिगोचर होते है जिनमें मुख्यतः प्राचीन रचनायें जैसे वेद पुराण, धर्मसूत्र, उपनिषद व महाकव्य आदि भी प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त समय–समय पर विदेशी विद्वानों के विवरणों ने भी इसमें अहम भूमिका निभायी थी।
- अलग–अलग कालखण्डों से रचित रचनाएँ जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति का भी इसमें अहम योगदान रहा है।
- प्राचीन भारतीय चिन्तन शिलालेख, स्तंभलेखों, गुफालेखों व ताम्रलेखों में भी परिलक्षित होता प्रतीत हुआ है।

● अभ्यास प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था को जानने के प्रमुख साहित्यिक स्त्रोतों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था को अभिलेखों के माध्यम से किस प्रकार जाना जा सकता है? चर्चा कीजिए।
3. निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए।

   (अ) स्मृतियाँ

   (ब) अर्थशास्त्र

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का मुख्य स्त्रोत है:
(अ) स्मृतियाँ (ब) वेद
(स) महाभारत (द) अर्थशास्त्र
2. "शुक्र" के अनुसार राज्य तथा शासन से संबंधित ज्ञान की शाखा का नाम है:
(अ) नृपशास्त्र (ब) नीतिसार
(स) राजनीति (द) राजधर्म
3. ऋग्वेद में वर्णित है:
(अ) 12 मंडल 1022 सूक्त (ब) 12 मंडल 1026 सूक्त
(स) 10 मंडल 1028 सूक्त (द) 11 मंडल 1020 सूक्त
4. ह्वेनसांग किसके शासनकाल में भारत आया?
(अ) चन्द्रगुप्त प्रथम (ब) चन्द्रगुप्त द्वितीय
(स) समुद्रगुप्त (द) हर्षवर्धन
5. प्राचीनतम सिक्कों को क्या कहा जाता है जिसे साहित्य में काषार्पण भी कहा गया है?
(अ) आहत सिक्के (ब) सादा सिक्के
(स) सोन के सिक्के (द) चांदी के सिक्के
6. सर्वप्रथम सिक्कों पर लेखन कार्य किया।
(अ) कलिंग शासको ने (ब) गुप्त शासकों ने
(स) यवन शासकों ने (द) उपर्यूक्त में से कोई नहीं
7. अभिलेखों का अध्ययन कहलाता है।
(अ) अभिग्राही (ब) डिस्ट्रॉफी
(स) इकोलॉजी (द) इपीग्राफी
8. पुराणों में अत्यधिक प्राचीन व प्रामाणिक है।
(अ) वायु पुराण (ब) विष्णु पुराण
(स) भगवत (द) मतस्य पुराण
9. वह वेद जो गद्य व पद्य दोनों में है।
(अ) ऋग्वेद (ब) सामवेद
(स) यजुर्वेद (द) अथर्ववेद
10. भारत का सर्वप्राचीन धर्म ग्रन्थ है।
(अ) पुराण (ब) उपनिषद
(स) वेद (द) धर्मसूत्र

उत्तरमाला

1.	(द)	2.	(ब)	3.	(स)	4.	(द)	5.	(अ)
6.	(स)	7.	(द)	8.	(द)	9.	(ब)	10.	(स)

❑❑❑

इकाई

3

वैदिक साहित्य में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ
(POLITICAL THOUGHT AND INSTITUTIONS IN VEDIC LITERATURE)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- वैदिक साहित्य
- वैदिक काल की अवधारणा
- राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार
- राजत्व सम्बन्धी विचार
- वैदिक कालीन संस्थाएँ
- मन्त्रिमण्डल सम्बन्धी विचार
- वैदिक गण का विवेचन
- वैदिक कालीन सैन्य, कर व न्याय प्रक्रिया
  - सारांश
  - अभ्यास प्रश्न
  - बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगे:

➡ वैदिक साहित्य के निर्माताओं के विषय में।

➡ राज्य की संस्थाएं–सभा, समिति व विदथ के विषय में।

➡ राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य के विषय में।

● प्रस्तावना

भारत के मानव सभ्यता का विकास प्रागैतिहासिक काल में प्रारम्भ हुआ माना गया है। उत्तर पाषाण काल जब समाप्ति की ओर था तब मनुष्य ने बर्बरता से उठकर सभ्यता के युग (लगभग 3000 ई. पू.) में प्रवेश किया था। विश्व की आदिम सभ्यताएं नदियों की घाटियों में पूर्णत: विकसित हुई। उसी प्रकार भारत में मानव सभ्यता के प्रथम ठोस अवशेष सैन्धव सभ्यता में पाये जाते हैं। मोहनजोदडों और हड़पा इस सभ्यता के प्रमुख केन्द्र माने गए थे। यह सभ्यता पूर्व में काठियावाड़ से प्रारम्भ होकर पश्चिम में मकरान तक फैली हुई मानी गयी।

सैन्धव सभ्यता की प्रथम विशेषता जो प्रायः अध्येताओं को आकृष्ट करती है वह उसकी नगर संरचना व भवन निर्माण कला ही हैं। जिन्हें देखने पर हम कल्पना कर सकते है कि सैन्धव समाज में किसी न किसी प्रकार का सुव्यवस्थित प्रशासन अवश्य विद्यमान था। क्योंकि निश्चित योजनानुसार निर्माण कार्य शासक या प्रशासन के बिना पूर्णतः असम्भव है। स्पष्ट है कि सैन्धवों ने कोई राजनीतिक व्यवस्था अवश्य अपना रखी थी, जिसके सम्बन्ध में लिखित सामग्री का अभाव दिखायी पडता है। 1750 ई. पूर्व के लगभग सैन्धव संस्कृति का पतन आरम्भ हो गया था। कुछ विद्वानों का विचार है कि हड़प्पा संस्कृति को आर्यों ने नष्ट किया परन्तु इस संबंध में स्पष्ट पुरातात्विक प्रमाणों का अभाव हैं तथा राजबली पाण्डेय ने अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किए हैं कि **"सिन्धु घाटी में क्रान्तिकारी जलवायु परिवर्तन एवं सिन्धु नदी के पथ परिवर्तन में यह सभ्यता नष्ट हो गई। इसके पश्चात् वैदिक काल प्रारम्भ हुआ।"**

● वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य से अर्थ उस विपुल साहित्य से है जिसमें वेद, ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषद शामिल हैं। वर्तमान समय में वैदिक साहित्य ही हिन्दू धर्म के प्राचीनतम स्वरुप पर प्रकाश डालने वाला व विश्व का प्राचीनतम स्त्रोत हैं। वैदिक साहित्य को **'श्रुति'** नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि (सृष्टि / नियम) कर्ता 'ब्रह्मा' ने विराटपुरुष भगवान की वेद ध्वनि को सुनकर ही प्राप्त किया है। श्रवण परम्परा के द्वारा ही अन्य ऋषियों ने इस साहित्य को प्राप्त किया था तथा आगे की पीढियों ने भी इस साहित्य को श्रवण परम्परा द्वारा ही ग्रहण किया था। अतः इस परम्परा को 'श्रुति परम्परा' के नाम से भी जाना जाता है। तथा श्रुति परम्परा पर आधारित होने के कारण ही इसे श्रुति साहित्य के नाम से जाना जाता है।

<u>हिन्दू धर्म</u>

"श्रेणी"

इतिहास	देवता
सम्प्रदाय	पूजा

आस्थादर्शन

पुर्नजन्म	मोक्ष
कर्म	माया
दर्शन	धर्म
वेदान्त	योग
युग	संस्कार
शाकाहार शाकम्भरी	आयुर्वेद
भक्ति	(हिन्दु दर्शन)

ग्रंथशास्त्र

वेदसंहिता	वेदांग
ब्राह्मण ग्रंथ	आरण्यक
उपनिषद्	श्रीमद्भगवतगीता
रामायण	महाभारत
सूत्र	पुराण
शिक्षापत्री	वचनामृत

सम्बन्धित

विश्व में हिन्दू धर्म	
गुरु	देवस्थान
यज्ञ	मन्त्र

हिन्दू मापन प्रणाली

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऊपर लिखे सभी वेदों के कई उपनिषद्, आरण्यक आते है। जिनकी भाषा संस्कृत हैं। जिसे इसकी अलग पहचान के कारण **"वैदिक संस्कृत"** कहा जाता है। माना जाता है कि इन संस्कृत शब्दों के प्रयोग व अर्थ कलान्तर में बदल गए या लुप्त हो ऐतिहासिक रुप से प्राचीन भारत व हिन्दू आर्य जाति के बारे में रनको एक अच्छा सन्दर्भ कहा जा सकता है। संस्कृत भाषा के प्राचीन रूप को लेकर भी इनका साहित्यिक महत्व बना हुआ है।

रचना के अनुसार प्रत्येक शाखा की वैदिक शब्द–राशि को चार भागों मे बाँटा गया है। वेद के मुख्य मन्त्र भाग को संहिता कहते हैं। संहिता के अलावा प्रत्येक में टीवा या भाष्य के तीन स्तर होते है। जो निम्न प्रकार से है।

- **संहिता** (मन्त्र भाग)
- **ब्राह्मण–ग्रन्थ** (गद्य में कर्मकाण्ड की विवेचना)
- **आरण्यक** (कर्मकाण्ड के पद के उद्देश्य की विवेचना)
- **उपनिषद्** (परमेश्वर, परमात्मा ब्रह्म व आत्मा के स्वभाव व सम्बन्ध का बहुत ही दार्शनिक व ज्ञानपूर्वक वर्णन)

जब हम चार (वेदों) की बात करते है तो उससे संहिता भाग का ही अर्थ मान लिया जाता है। उपनिषद (ऋषियों की विवेचना), ब्राह्मण (अर्थ) आदि मंत्र भाग (संहिता) के सहायक ग्रंथ माने जाते हैं। वेदो को चार भागों में बाँटा गया है – ऋक्, साम, यजुः व अथर्व। संक्षिप्त में कहा जाए तो **ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद**।

वैदिक साहित्य का काल

वेदों की रचना कब हुई इस विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है तथा यह भी स्पष्ट नहीं हैं कि उनमें किस काल की सभ्यता का वर्णन मिलता है। भारतीय मानते है कि वेद किसी मनुष्य के द्वारा नहीं बनाये गये। अतः इस कारण उनके काल निधोरण का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु कुछ पश्चिमी विद्वान वेदों को ऋषियों की रचना मानते हैं व इसके काल के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कल्पनाएँ दी है। पहली कल्पना में 'मैक्समूलर' ने वैदिक साहित्य का काल 1200 ई० पू० से 600 ई० पू० माना है। दूसरी कल्पना में जर्मन विद्वान **मारिज विण्टरनित्य** के अनुसार वैदिक साहित्य का काल 2500–2000 ई० पू० तक माना गया है। **तिलक व अल याकुबी** ने वैदिक साहित्य में वर्णित नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर इस साहित्य का आरम्भ काल 4500 ई० पू० माना है। **श्री अविनाशचन्द्र दास** तथाा **पावगी** ने ऋग्वेद में वर्णित भूगर्भविषयक साक्षी द्वारा ऋग्वेद को कई लाख वर्षों पूर्व का बताया है।

वैदिक साहित्य का वर्गीकरण: वैदिक साहित्य को निम्नलिखित भागो में बाँटा गया है।

1. संहिता	2. ब्राह्मण
3. आरण्यक	4. उपनिषद्
और (1) वेदांगर	(2) सूत्त–साहित्य

संहिता: संहिता का शादिक अर्थ है (संग्रह)। संहिताओं में विभिन्न देवताओं के स्तुतिपरक मंत्रों का समावेश है। संहिताओं के चार भाग हैं।

1. ऋक्	2. यजुष्
3. साम	4. अथर्व

प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदों को नित्य व अपौरुषेय माना गया है। उनकी कभी मनुष्य द्वारा रचना नही की गई। सृष्टि के प्रारम्भ में देव ने इनका प्रकाश अग्नि, वायु, अदित्य व अंगिरा नामक ऋषियों को दिया था। प्रत्येक वैदिक मंत्र के देवता व ऋषि होते हैं। मन्त्र में जिसकी स्तुति की जाए वर उस मन्त्र का देवता माना जाता है व जिसने मन्त्र के अर्थ का सर्वप्रथम प्रदर्शन किया हो वह उसका ऋषि कहलाएगा। पाश्चात्य विद्वानों ने ऋषियों को ही वेदो का रचनाकार माना है। वैदिक साहित्य को श्रुति के नाम से भी जाना जाता हैं। क्योंकि पुराने ऋषियों ने इस साहित्य को श्रवण परम्परा के द्वारा ही ग्रहण किया है। इसके पश्चात् इस ज्ञान को स्मरण करके जो ग्रन्थ लिखे गए, वे स्मृति के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। श्रुति के शीर्ष स्थान पर उपर्युक्त चार संहितार हैं।

ऋग्वेद

ऋग्वेद में 10,627 मन्त्र व 1,028 सूक्त है। जिन्हें 10 मण्डली में विभाजित किया गया है। सूक्तों में देवताओं की स्तुतियाँ है। ये बड़ी भव्य उदात्त व काव्यमयी है। इनमे कल्पना की नवीनता, वर्णन की प्रौढ़ता व प्रतिभा की ऊँची उड़ान मिलती है। 'उषा' आदि कई देवताओ के वर्णन बड़े हृदयग्राही हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद की संहिता सबसे प्राचीन है। उनके अनुसार उसके अधिकांश सूक्तों की रचना पंजाब में हुई। उस समय आर्य अफगानिस्तान से गंगा–यमुना तक के प्रदेशों में फैले हुए थे। उनके मत में ऋग्वेद मे कुभा, सुवास्तु, क्रमु, गोमती, सिंधु गंगा, यमुना, सरस्वती व पंजाब की पाँच नदियों शतुद्रि, विपाशा, परुष्णी, असिवनी व वितस्ता का उल्लेख है। इन नदियों से संचित प्रदेश भारत में आर्य–सभ्यता का जन्म स्थान माना गया है।

यजुर्वेद

इसमें यज्ञ–विषयक मंत्रो का संग्रह देखने को मिलता। अध्वर्यु नामक पुरोहित ने इनका प्रयोग यज्ञ के समय किया था। इसमें लगभग 40 अध्याय है तथा 1975 मन्त्र उपलब्ध है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह ऋग्वेद से काफी समय बाद का वेद है। ऋग्वेद में आर्यों का कार्य क्षेत्र पंजाब को बताया गया है तथा इसमें कुरु पांचाल को माना है। कुरु सतलुज यमुना का मध्यवर्ती भू–भाग है व पांचाल गंगा यमुना का दोआब था। ऋग्वेद में धर्म–उपासना प्रधान था, परन्तु यजुर्वेद के दो भाग है – कृष्ण यजुष् व शुक्र यजुष्। दोनों के स्वरुप भिन्न–भिन्न है। प्रथम में केवल मंत्रों का संग्रह है व दूसरे में छन्दबद्ध मंत्रों के साथ गद्यात्मक भाग भी शामिल है।

सामवेद

इसमें गेय मंत्रों का संग्रह है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था उसे बुलाने के लिए उद्धाता उचित स्वर में उस देवता के स्तुति–मन्त्रों का गान करते थे। इस गायन को ही 'साम' के नाम से पुकारा जाता था। इसमें प्रायः ऋचाएँ ही गाई जाया करती थी। अतः सम्पूर्ण सामवेद में ये ऋचाएँ ही देखने को मिलती है। इनकी संख्या 1875 हैं। जिनमें से मात्र 75 ही नवीन है। अन्य सभी को ऋग्वेद से लिया गया। भारतीय संगीत का मूल सामवेद में देखने को मिलता है।

अथर्ववेद

यज्ञों से अथर्ववेद का बहुत कम संबंध है। इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री अधिक है। इसका प्रतिपाद्य विषय विभिन्न प्रकार की औषधिषाँ, ज्वर, पीलिया, सर्पदंश, विष–प्रभाव को दूर करने के मंत्र, सूर्य की स्वास्थ्य शक्ति, रोगोत्पादक कीटाणुओं के शमन आदि का उल्लेख मिलता है। इसमें यज्ञ करने के लाभ व यज्ञ से पर्यावरण की रक्षा का वर्णन भी देखने को मिलता है। वे इसमें आर्य व अनार्य धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण देखते है; किन्तु वस्तुतः इसमें राजनीति तथा समाज शास्त्र के अनेक ऊँचे सिद्धान्तों का वर्णन किया है। इसमें 20 काण्ड, 34 प्रपाठक, 111 अनुवाक, 731 सूक्त व 5,977 मन्त्र है, इनमें 1200 के लगभग मन्त्र ऋग्वेद से प्राप्त किए गए है। ऊपर वर्णित चारों संहिताओं का संग्रह पहले एक ही जगह था। किन्तु यज्ञ में सिद्धि के लिए वेदव्यास जी ने इसे चार भागों में विभाजित कर दिया।

वेदो की शाखाएँ

प्राचीन काल में वेदों की रक्षा के लिए गुरु–शिष्य परंपरा का प्रचलन था। इनका लिखित व निश्चित स्वरूप न होने के कारण वेदों के स्वरुप में कुछ भेद आ गए व इनकी शाखाओं का विकास हो गया। ऋग्वेद की कुल पाँच शाखाएँ थी जो निम्नवत है। शैशिरीयशाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय। परन्तु अब केवल पहली शाखा ही उपलब्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो प्रधान शाखाएं है– माध्यदिन व काण्व। पहली शाखा उत्तरी भारत में है व दूसरी शाखा महाराष्ट्र में मिलती है। इनमें कोई अधिक भेद नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ प्राप्त है–तैत्तिरियि, मैत्रायिणी, काठक तथा कापिष्ठल संहिता। इनमें दूसरी तीसरी पहली से मिलती है, व क्रम में कुछ ही अन्तर है। चौथी शाखा का अर्द्ध भाग ही प्राप्त है। सामवेद को दो शाखाओं में बाँटा गया है। कौथुम व राणायनीप। इसमें कौथुम का केवल सातवाँ प्रपाठक ही प्राप्त है। इस शाखा को भी आदित्य सम्प्रदाय का कहा जाता है। अथर्ववेद की

दो शाखाएं प्राप्त है– पैप्पलाद और शौनक। वर्तमान समय में शौनक शाखा ही पूर्णरूप से प्राप्त हुई है, इस शाखा को **"आदित्य सम्प्रदायिका"** माना गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

चारों वेदो के संस्कृत भाषा में प्राचीन समय में जो अनुवाद थे; वे **"मन्त्र ब्राह्मणयोः वेदनामधेयम्"** के अनुसार वे ब्राह्मण ग्रंथ कहलाये। मुख्य चार ब्राह्मण ग्रंथ निम्नवत हैं। ऐतरेय, शतपथ, साम व गोपथ। वेद संहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ माना गया है। इसमें पक्षों के कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तथा प्राचीन राजाओं व ऋषियों की कथाएँ तथा सृष्टि सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। प्रत्येक वेद के अपने–अपने ब्राह्मण है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण **ऐतरेय ब्राह्मण** और **कौषीतकी** है। ऐतरेय में 40 अध्याय व आठ पंचिकाएँ हैं। इसमें आग्नष्टोम, गवामयन, द्वादशाह आदि सोमयागों अग्निहोत्र तथा राज्याभिषेक का विस्तृत ऐतरेय ब्राह्मण जैसा ही देखने को मिलता है। इनसे तत्कालीन इतिहास पर काफी प्रकाश भी पड़ा है। ऐतरेय में शुनः शेप की प्रसिद्ध कथा का वर्णन मिलता है। कौषीतकी से पता चलता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता था। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण (शतपथ) के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें 100 अध्यायों का संग्रह है। ऋग्वेद के बाद प्राचीन इतिहास की सबसे अधिक जानकारी यजुर्वेद से ही प्राप्त होती है। इसमें यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ साथ अनेक प्राचीन आख्यानों व सामाजिक बातों का विवरण मिलता है। इसके समय काल में कुरु–पांचाल आर्य संस्कृति का मुख्य केन्द्र था। इसमें **पुरुरवा** व **उर्वशी** की प्रणय–गाथा, च्यवन ऋषि तथा **महा प्रलय** का आख्यान, **जनमेजय**, **शकुन्तला** व **भरत** का वर्णन मिलता है। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में से **पंचविंश** या **ताण्डय** ही महत्वपूर्ण है। **अथर्ववेद** का ब्राह्मण **गोपथ** के नाम से प्रसिद्ध है।

आरण्यक

ब्राह्मणों के अंत में कुछ ऐसे अध्याय मिलते हैं जो गाँवो या नगरी में नहीं पढे जाते थे। उनका अध्ययन कार्य गाँवो से कुछ दूर वनों में होता था। इसी कारण इन्हें आरण्यक कहा जाता था। गृहस्थाश्रम में यज्ञविधि का निर्देश करने कि लिए ब्राह्मण ग्रन्थ उपयोगी माने जाते थे। व उसके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में सन्यासी आर्य यज्ञ के रहस्यों व दार्शनिक तत्वों का विवेयन करने वाले आरण्यकों का अध्ययन करते थे। उपनिषदों का इन्हीं आरण्यकों से विकास माना जाता है।

उपनिषद्

उपनिषदों में मानव जीवन व विश्व के गूढ़तम प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ये भारतीय अध्यात्म–शास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं। वैदिक साहित्य में इनका स्थान सबसे अन्त में है जिस कारण इन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। इनमें जीव व ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन द्वारा ऊँची से ऊँची दार्शनिक उड़ाने ली गई हैं। भारतीय ऋषियों ने गम्भीरता से चिन्तन करके जिन आध्यात्मिक तत्वों का साक्षात्कार किया, उपनिषद् को उनका मूल कोष बनाया है। इनमें अनेक शतकों की तत्व चिन्ता का परिणाम मिलता है। मुक्ति कोपनिषद् चारों वेदो से सम्बद्ध 108 उपनिषद् गिनाए जाते है। किन्तु 11 उपनिषद ही अत्यधिक प्रसिद्ध माने गये। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरिय, ऐतरेय, छान्दोग्य व बृहदारण्यक व श्वेताश्वतर इनमें छान्दोग्य व बृहदारण्यक आधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण कहलाते है। प्रत्येक मन्त्र भाग में एक व ब्रह्मण भाग में एक उपनिषद उपदिष्ट माने जाते थे। जो अब प्राय लुप्त हो गए है। अब भी यह सिद्धान्त शुक्ल यजुर्वेद में बचा है जो निम्नवत है **"ईशावास्योनिषद् मन्त्रोपनिषद् है व बृहदारण्यकोपनिषद् ब्राह्मणोपनिषद हैं।"**

सूत्र–साहित्य

वैदिक साहित्य के विशाल व जटिल होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नवीन रूप देने का प्रयास किया गया। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ प्रतिपादन करने वाले छोटे–छोटे वाक्यों में सब महत्वपूर्ण विधि–विधान को सूत्र कहा गया। कर्मकाण्ड सम्बन्धी सूत्र साहित्य को चार भागों में विभाजित किया गया।

1. श्रौत सूत्र **2. ग्रह्य सूत्र** **3. धर्म सूत्र** **4. शुल्ब सूत्र**

पहले में वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन किया गया है। दूसरे में गृहस्थ के दैनिक यज्ञों का व तीसरे में सामाजिक नियमों का व चौथे में यज्ञ वेदियों के निर्माण का वर्णन दृष्टिगोचर होता है।

श्रौत सूत्र

श्रौत का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ याग। अतः श्रौत सूत्रों में तीन प्रकार की अग्नियों के आधान अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्यादि साहारण यज्ञों व अग्निष्टोम आदि सोमयागों का उल्लेख किया गया है। ये भारत की प्राचीन यज्ञ–पद्धति पर बहुत प्रकाश डालते है। ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र माने जाते है– शंखायन व आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एक सूत्र कात्यायन है एवं कृष्ण यजुर्वेद के छः सूत्र निम्नवत है– आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस। सामवेद के लाट्यायन, द्राह्मायण व आर्षेय नामक तीन सूत्र माने जाते हैं। जबकि अथर्ववेद का एक ही वैतान सूत्र है।

गृह्य सूत्र

इनमें उन विचारों तथा जन्म से मरणपर्यन्त किये जाने वाले संस्कारों का उल्लेख मिलता है। जिनका अनुष्ठान प्रत्येक हिन्दू– गृहस्थ के लिए आवश्यक माना जाता है। उपनयन व विवाह–संस्कार का विस्तार पूर्वक वर्णन इसमें है। इन ग्रंथों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार–विचार का तथा विभिन्न प्रान्तों के रीति–रिवाज का पूर्ण रूप से देखने को मिलता है। शंखायन व आश्वलायन ऋग्वेद के गृह्य सूत्र है। शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर, कृष्ण यजुर्वेद के आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी बौधायन, भारद्वाज, वराह, मानव, काठक व वैखानस, सामवेद के गोभिल तथा खादिर और अथर्ववेद का कौशिक सूत्र उपलब्ध है। इनमें गोभिल को प्राचीनतम माना गया है।

धर्मसूत्र

धर्मसूत्रों में सामाजिक जीवन के नियमों का विस्तार से वर्णन मिलता है। वर्णाश्रम–धर्म की विवेचना करते हुए ब्रह्मचारी, गृहस्थ व राजा के कर्त्तव्यों, विवाह के भेदों, दाय की व्यवस्था, निषिद्ध भोजन, शुद्धि, प्रायश्चित आदि का महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इन्हीं धर्मसूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई, जिनकी व्यवस्थाएँ हिन्दू–समाज में आज तक माननीय मानी जाती है। वेद से सम्बद्ध केवल तीन धर्मसूत्र ही अब तक उपलब्ध हो पाये है। जो निम्नवत हैं। आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी व बौधायन। ये कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से पूर्णतः सम्बन्धित हैं। शुक्ल यजुर्वेद का शंखलिखित धर्मसूत्र होने की बात बताता है। अन्य धर्म सूत्रों में सामवेद से सम्बद्ध गौतमधर्मसूत्र व ऋग्वेद से सम्बद्ध वसिष्ठधर्मसूत्र का वणन मिलता है।

शुल्ब सूत्र

इनका सम्बन्ध श्रोत सूत्रों से है। शुल्ब का अर्थ है मापने का डोरा। अपने नाम के अनुसार शुल्ब सूत्रों में यज्ञ – वेदियों को नापना, उनके लिए स्थान का चुनना तथा उनके निर्माण आदि विषयों का सम्पूर्ण उल्लेख मिलता है। इन्हें भारतीय ज्यामिति के प्राचीनतम स्त्रोत ग्रन्थ भी कहा गया है।

वेदांग

काफी समय व्यतीत होने के बाद वैदिक साहित्य जटिल एवं कठिन प्रतीत दिखायी देने लगा उस समय वेद के अर्थ तथा विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए अनेक सूत्र–ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। इसलिए उन्हें वेदांग कहा जाने लगा।

वेदांग 6 प्रकार के होते हैं शिक्षा, छन्द, व्याकरण , निरुक्त, कल्प और ज्योतिष। पहले चार वेदांग, मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण व अर्थ समझने के लिए या अन्तिम दो वेदांग धार्मिक कर्मकाण्ड व यज्ञों का समय जानने के लिए आवश्यक माने जाते है। व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है। ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका तथा छन्द को दोनों पैर माना जाता है।

शिक्षा

उन ग्रन्थों को शिक्षा कहा जाता है, जिनकी सहायता से वेद मन्त्रों के उच्चारण का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। वेद–पाठ में स्वरों का विशेष महत्व माना जाता है। इनकी शिक्षा से अलग वेदांगो का निर्माण किया गया है। इसमें वर्ण के उच्चारण के अनेक नियम बताए गए। संसार में उच्चारण शास्त्र की वैज्ञानिक विवेचना करने वाले पहले ग्रन्थ यही है। ये वेदों की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते है व प्रतिशाक्ष्य कहे जाते हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसेनपि व तैत्तिरिय संहिता के प्रतिशाख्य मिलते हैं। बाद में इसके आधार पर शिक्षा–ग्रन्थ बताए गए। इनमें शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य– शिक्षा, सामवेद की नारद शिक्षा व पाणिनि की पाणिनपि शिक्षा मुख्य मानी जाती है।

छन्द

वैदिक मन्त्रों को छन्दोबद्ध कहा जाता है। बिना छन्दों का ज्ञान प्राप्त किये, वेद मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं किया जा सकता। अतः छन्दों की विस्तृत विवेचना आवश्यक समझी गई। शौनक मुनि के ऋक्प्रातिशाख्य में, शांखायन श्रौत सूत्र में तथा सामवेद से सम्बद्ध निदान सूत्र में इस शास्त्र का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। किन्तु इस वेदांग का एकमात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ पिंगलाचार्य प्रणीत छन्द सूत्र है। इसमें वैदिक व लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का उल्लेख भी मिलता है।

व्याकरण

इस भाग का उद्देश्य सन्धि, शब्द रुप, धातु–रुप तथा इनकी निर्माण–पद्धति का ज्ञान कराना था। इस समय व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ पाणिनी का अष्टाधायी है, किन्तु व्याकरण का विचार ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से शुरु हुआ माना जाता है। पाणिनी ने पहले गार्ग्य, स्फोटायन, भारद्वाज आदि व्याकरण के अनेक महान आचार्य हुए थे। परन्तु अब इन सभी के ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं।

निरुक्त

इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति के दर्शन देखने को मिलते है। प्राचीन काल में वेद के कठिन शब्दों की क्रमबद्ध तालिका व कोश निघंटु कहलाये जाते थे। और इनकी व्याख्या निरुक्त में भी की गयी थी। आजकल केवल यास्काचार्य का निरुक्त ही प्राप्त होता है। इसका समय 800 ई० पू० के लगभग माना जाता है।

ज्योतिष

वैदिक युग में यह धारणा थी कि वेदों का उद्देश्य यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ उचित काल व मुहर्त में किये जाने से ही फलदायक माने जाते थे। अतः काल–ज्ञान के लिए ज्योतिष का ज्ञान आति आवश्यक

माना जाने लगा। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र का विकास हुआ माना जाता है। इस प्रकार ज्योतिष के ज्ञाता को यज्ञवेत्ता कहा जाता था। इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। इसे ही वेद का अंग मानने लगे। इसका प्राचीनतम ग्रन्थ 'लगधमुनि रचित' **वेदांग ज्योतिष** पंचसंवत्सरमये इत्यादि 44 श्लोकात्मक है। **नेपाल** में इस ग्रन्थ के आधार पर बना **वैदिक तिथिपत्रम्** व्यवहार में भी प्रयोग किया जाने लगा है।

कल्प

वेद के 6 अंगों में कल्प वह अंग है जो कर्मकाण्डों का विवरण देता है। अनेक वैदिक ऐतिहासिकों के मत से कल्पग्रंथ या कल्पसूत्र 6 वेदांगों में प्राचीनतम व वैदिक साहित्य के आधिक निकट माने जाते है। वेदांगों में कल्प का विशिष्ट महत्व है। क्योंकि **जन्म, उपनयन, विवाह, अंत्येष्टि** व **यज्ञ** जैसे विषय इसमें निहित माने जाते है।

● वैदिक काल की अवधारणा

वह काल जिसमें आर्यों ने वेदों, ब्राह्मणों व उपनिषद् ग्रन्थों की रचना की, वैदिक काल कहलाया। स्थूलतः वैदिक काल को ए.एल. बेशम ने 1500 ई.प. (1500–1000 ई.पू. ऋग्वैदिक काल) से 700 ई.पू. (1000 ई.पू. से 700 ई.पू. तक उत्तर वैदिक काल) तक माना। मोटे रूप में सैन्धव सभ्यता के अवसान से बौद्धकाल प्रारम्भ होने के मध्य का अन्तराल वैदिक काल माना गया। कुछ विद्वान् वैदिक साहित्य को 1500 ई.पू. से 600 ई.पू. के मध्य रखा मानते हैं।

☛ **विशेष**

वैदिक साहित्य निर्माता

- वैदिक साहित्य के निर्माता आर्य थे। जिनके मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मतभेद दिखायी पडता है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि आर्य, ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व भारत आये व उन्होंने यहाँ निवास करने वाली अनार्य जातियों को हराया। जबकि बाल गंगाधर तिलक का विचार यह था कि आर्य उत्तरी ध्रुव से भारत में आये। कुछ विद्वान उन्हें सप्तसैन्धव तो कुछ ईरान व यूरोप का निवासी मानते हैं। राजबली पाण्डेय ने आर्यों को मध्य देश (उत्तर प्रदेश) का निवासी माना। गाइल्स, आर्यों का आदि देश भारत को नहीं मानते हैं, उनका मत है कि आर्य डैन्यूब घाटी से चलकर एशिया माइनर के पठार को पार कर ईरान पहुंचे और वहाँ से भारत आये। पेन्का ने आर्यों का मुल निवास स्केण्डिनेविया माना है तथा मैक्समूलर का विचार था कि आर्यों के पूर्वज मध्य एशिया में निवास किया करते थे। उनकी एक शाखा भारत में आकर बसी। गार्डन चाइल्ड के अनुसार आर्यों का आदि देश स्केण्डीनेविया या दक्षिणी रूस होने की अधिक सम्भावना है। किन्तु अभी तक निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि आर्यो का आदि देश कौन सा था व वैदिक साहित्य के निर्मात विदेशी ही थे।

● राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार

वैदिक साहित्य में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। राज्य उत्पत्ति के सिद्धान्तों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है, जो निम्नवत है।

राज्य की दैविक उत्पत्ति का सिद्धान्त
↓
विकासवादी सिद्धान्त
↓
संविदा सिद्धान्त

(i) राज्य की दैविक उत्पत्ति का सिद्धान्त: इस सिद्धान्त के अनुसार प्राचीनकाल में अधिकांश संस्थाओं की उत्पत्ति दैविक ही मानी जाती थी। राज्य की उत्पत्ति का आधार भी प्रायः इसी प्रकार का था। इसका संकेत शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है। इसमें राज्य के स्वामी राजा को प्रजापति कहा गया व चक्रवर्तिन शब्द में चक्र का सम्बन्ध विष्णु चक्र से जोड़ा गया। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्याभिषेक के समय अग्नि, गायत्री, स्वस्ति व बृहस्पति आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे राजा के शरीर में पूर्णतः प्रवेश करें। इस प्रकार तत्कालीन समय में राज्य के स्वामी राजा को परमात्मा का अंश माना जाता था। अतः कालान्तर में यह विचार लोकप्रिय हो गया कि परमात्मा जनता पर शासन करने हेतु नर रूप धारण करता है। अतः यह कहना उचित होगा कि वैदिक साहित्य में राज्य एवं राजा को वैदिक शक्तियों से उत्पन्न माना गया।

(ii) विकासवादी सिद्धान्त: इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का एक संस्था के रूप में कई कुल मिलाकर गौत्र का निर्माण होता था। गौत्र से बड़ा जन, जन से विश और सम्पूर्ण विशों से राष्ट्र का निर्माण होता था; जबकि अल्तेकर का विचार है कि कई गांवों का समूह विश कहलाता था और उसका मुखिया विशपति। कई विशों से मिलकर जन का निर्माण होता था और उसका प्रमुख जनपति या राजा कहलाता था। जनपति अपने परिवार के सदस्यों की तरह सम्पूर्ण जन पर नियन्त्रण एवं अनुशासन भी रखता था। कालान्तर में जन राज्यों के विस्तार के साथ ही राजा के अधिकारों में वृद्धि होती गई। इस प्रकार वैदिक काल में शासन संस्थाए सुदृढ़ बनाने में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति की विकास प्रक्रिया ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह की। राज्य उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त का संकेत अथर्ववेद में भी मिलता है। अथर्ववेद में राज्य की उत्पत्ति के अलावा मातृभूमि के प्रति श्रद्धा सम्बन्धी मंत्र भी प्राप्त हुए हैं।

(iii) संविदा सिद्धान्त: राज्य उत्पत्ति के तृतीय संविदा सिद्धान्त का अध्ययन भी अति आवश्यक माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार असुरों के विरूद्ध युद्ध के सफल संचालन के लिये देवताओं ने राजा का निर्वाचन करना आवश्यक समझा है। जो विवरण प्राप्त होता है उसके अनुसार प्रजापति की अध्यक्षता में देवताओं ने एक दूसरे से कहा कि इन्द्र उन सबसे अधिक पूर्ण सुदृढ़ क्रियाशील व प्रत्येक कार्य करने में श्रेष्ठ है। इसलिए उन्होंने उसे राजा चुना व उसका राज्याभिषेक भी किया। स्पष्ट है कि जब आर्य जन के रूप में निवास करने लगे तो उनकी सम्पत्ति की रक्षा का प्रश्न अवश्य ही उत्पन्न होगा। तब उन्होंने अपने में से योग्य व्यक्ति को राजा बनाने का निश्चय किया होगा। स्पष्ट है कि राजा बनाने में एक प्रकार की सहमति अन्तर्निहित होती थी। आर.एस. शर्मा के अनुसार यह विचार सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रारम्भिक स्वरूप मात्र था।

शासन विधान

ऋग्वेद से संकेतित है कि वैदिक काल में राज्य का स्वरूप पूर्णतः राजतन्त्रीय था। किन्तु ऐतरेय बाह्मण में आठ प्रकार के राज्यों का उल्लेख प्राप्त हुआ है तथा उसमें उनके शासकों की पदवियों व जिन प्रदेशों में वे राज्य करते थे उनका भी विवरण दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात विवरण निम्नवत है:

	राज्य का प्रकार	शासक की पदवी	शासन क्षेत्र
1.	साम्राज्य	सम्राट	पूर्व
2.	भोज्य	भोज	दक्षिण
3.	स्वराज्य	स्वराट्	पश्चिम
4.	वैराज्य (गणराज्य 9)	विराट	उत्तर (मद्र, कुरू)
5.	राज्य	राट्	कुरू पांचाल
6.	पारमेष्ठ्य	–	कुरू पांचाल से उत्तर की ओर
7.	महाराज्य	–	कुरू पांचाल से उत्तर की ओर
8.	आभिपत्य	–	कुरू पांचाल से उत्तर की ओर

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पर विचार करने वाले लेखकों की धारणा रही है कि वैदिक काल में राजतन्त्र या नृपतन व्यवस्था ही पूर्णतः थी। कभी–कभी वे लोग राज्य संघों का भी उल्लेख करते दिखायी देते है। यद्यपि प्रारम्भ में जन राज्यों की ही अधिकता रही है। यद्, पुरु, अणु और तुर्वशु आदि उन दिनों विशिष्ट जन माने गए थे। राजसूझ यज्ञ में राजा किसी प्रदेश या राज्य का नहीं बल्कि सम्पुर्ण भारत या कुरु–पांचालों का राजा घोषित किया जाता था। उत्तर वैदिक काल में प्रादेशिक राज्य की भावना बलवती हो गई, जिसका उल्लेख पूर्णतः अथर्ववेद में मिलता है। वैदिक काल में राजा, महाराजा, सम्राट आदि उपाधियां, राजाओं को पद व गौरव के अनुसार दी जाती थी। कुछ राजा, स्वराज एवं भोज भी कहलाते थे। अल्तेकर के अनुसार इनका अर्थ बतलाना पूर्णतः कठिन है। राज्याभिषेक में कभी–कभी कहा गया है कि शासक को एक साथ राज्य, स्वाराज्य, भोज्य, वैराज्य, महाराज्य पद भी प्राप्त हो सकेगें। इससे संदेह भी उत्पन्न होता है कि ये उपाधियां विभिन्न राज्यों की सुचियां है या नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण देश के विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न शासन प्रणालियों का उल्लेख विस्तृतपूर्वक करता है। अल्तेकर ने करद राज्य को भोज और स्वराज तथा उनके अधिपति को सम्राट स्वीकार किया। सम्राट और स्वराट में क्या अन्तर था, यह कहना पूर्णतः कठिन है। सम्राट का राज्य साधारण राज्य से अवश्य बड़ा रहा वैराज्य को गणतन्त्र का सूचक माना जाता था। उत्तर–वैदिक काल में द्वैराज्य का अवश्य विकास हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण से भारत में विशुद्ध प्रजातन्त्र राज्यों का उल्लेख भी मिलता है तथा हिमालय के निकट उत्तर कुरु व उत्तर मद्र आदि जनों में विराट (राजा सहित) शासन तन्त्र पूर्णतः प्रचलित हो गया था। परवर्तीकाल में भारत में नगर राज्यों का विकास हुआ था। किन्तु प्राचीन भारत में अधिकांशतः नृपतन्य या एकतन्त्र शासन व्यवस्था ही लोकप्रिय मानी गयी है।

राज्य के उद्देश्य

वैदिक काल के प्रारम्भ में यदु, तुर्वशु, भरत आदि अनेक जन राज्यों का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक काल तक ये जन–राज्य देश के विभिन्न भू–भागों पर स्थायी रूप से बसे हुए माने गए थे। उनके राजा जन के ही नहीं राष्ट्र के भी स्वामी कहलाने लगे थे। वैदिक साहित्य से प्रादेशिक राज्यों के अंगों का स्पष्ट उल्लेख कभी प्राप्त नहीं हुआ। फिर भी यह सम्भव है कि इन राज्यों में सप्तांग का सिद्धान्त किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा होगा क्योंकि उनके बिना राज्य का संचालन सम्भव ही नहीं है।

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में भी विस्तृत विवरण मिलता है। उन दिनों शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा व न्याय आदि राज्य के मूल उद्देश्य माने जाते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि राजा को वरुण के समान व्रत, नियम और व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक तथा दुष्टों को दण्ड देने वाला ही होना चाहिए। धर्म का संवर्धन, सदाचार को प्रोत्साहन व ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्य को भली–भांति अपनाना चाहिए। इस प्रकार प्रजा का सर्वांगीण कल्याण ही राज्य का एकमात्र उद्देश्य था।

☛ **विशेष**

- अल्तेकर ने अपने ग्रन्थ (प्राचीन भारतीय शासन पद्धति) में इस सम्भावना पर भी विचार किया है कि क्या प्राचीन भारतीय राजाओं पर धर्म से नियन्त्रण था? तत्कालीन समय में धर्म निगडित राज्य में राजा धर्म गुरू की आज्ञानुसार कार्य करता था।
- ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि यदि राजा योग्य बाह्मण पुरोहित की सहायता नहीं लेता था तो देवता उसके हवन को स्वीकार नहीं करते थे। राज्याभिषेक के समय राजा तीन बार ब्राह्मण को नमस्कार करता था और इस प्रकार उसका वशवर्ती होना स्वीकार करता था। ऐसा करने से ही उसकी समृद्धि होती थी।
- ऋग्वेद में भी कहा गया है राजा अपने पुरोहित का यथोचित सम्मान करता था जिससे वह शत्रुओं पर विजय व प्रजा की राजनिष्ठा प्राप्त करता था। इस प्रकार प्रारम्भ में ब्राह्मणों ने राजा पर अपना सम्पूर्ण प्रभाव जमाने का प्रयास किया, किन्तु इसमें वे असफल रहे।
- तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी एक स्थल पर कहा गया है कि राजा जो चाहता है, ब्राह्मणों को वही करना पड़ता है।
- ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है।
- वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि समाज में सबसे ऊंचा पद क्षत्रिय अर्थात् राजा का होता था। इसलिए ब्राह्मण उसके नीचे बैठता था।

इस प्रकार साहित्य में जो उदाहरण मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि वैदिक काल में राजा धर्म निगड़ित नहीं था। किन्तु इतना अवश्य है कि राजा धर्म और नीति का रक्षक अवश्य माना जाता था। इसी के आधार पर वह राज्य में शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित करता था। शतपथ बाह्मण में कहा गया है कि **"देवलोक के राजा वरुण की भांति इहलोक का राजा धर्मपति (अर्थात् प्रजा को धर्म के मार्ग पर चलाने का प्रयास करने वाला) था।"**

सर्वोच्च सत्ता का अस्तित्व

वैदिक काल में राज्य की सर्वोच्च सत्ता का अस्तित्व कहाँ केन्द्रित था, यह विषय पूर्णतः विवादपूर्ण है। वैदिक काल में शासन, सत्ता, राजा और समिति में निहित थी। इसलिए शासनाधिकार के सर्वोच्च अधिष्ठान उन्हें ही माना जाता था। गणतन्त्रों में सर्वोच्च सत्ता केन्द्रीय समिति में पूर्णतः निहित होती थी। गणतन्त्रों की समाप्ति के पश्चात् राजा ही सर्वोच्च सत्ता के अधिष्ठान बनते थे। शतपथ ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि धर्म राजा से पूर्णतः परे है वह उसका अनादर नहीं कर सकता अर्थात् वह पूर्णतः उसके अधीन है। इससे संकेतित है कि धर्म को भी हम शासन सत्ता का अधिष्ठान मान ही सकते हैं। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि यदि राजा धर्म के अनुसार आचरण न करे तो भी उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार राज्य की सत्ता धर्म में नहीं अर्पितु राजा में ही प्रतिष्ठित मानी गयी थी।

● राजत्व संबंधी विचार

प्राचीन भारत में शासक को राजा कहा गया। उसका कर्त्तव्य श्रेष्ठ शासन स्थापित कर प्रजा का पालन–पोषण करना था। वैदिक काल में राजा की उत्पत्ति किस प्रकार और कैसे सम्पन्न हुई इस सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि देवासुर संग्राम में देवताओं का कोई राजा न होने से वे विजयी नहीं हो रहे थे, तब वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि असुरों की सफलता का कारण उनमें नेतृत्व करने वाले राजा का होना ही है। अतः उन्होंने राजा निर्वाचन करने का निश्चय किया। इस विवेचन के आधार पर जायसवाल ने मत निम्न शब्दों में व्यक्त किया कि **"राजपद का प्रारम्भ निर्वाचन से हुआ। राजा का यह निर्वाचन एक समिति करती थी।"** इस सम्बन्ध में बेनी प्रसाद का विचार भी अग्रणी था कि **"राजा की उत्पत्ति सैनिक आवश्यकता से हुई और उसकी वैधता सहमति से हुई।"** राजा के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया गया है कि जो व्यक्ति इस पद पर चुना जाता उसे कुछ कर्त्तव्यों का पालन भी करना पड़ता था। यह विवरण राजा–प्रजा के मध्य हुए किसी समझौते की ओर भी संकेत करता है। राजा को अभिषेक के समय शपथ दिलवाई जाती थी कि वह धर्म या कानून के अनुसार ही शासन करेगा तथा वह अपनी प्रजा का हर सम्भव प्रकार से भरण–पोषण करेगा।

राजपद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यू. एन. घोषल जैसे विद्वानों ने कहा है कि **"राजतन्त्र का आधार मत्स्य न्याय का सिद्धान्त है। अर्थात् जब अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तो शक्तिशाली मछली कमजोर का भक्षण कर लेती है। ऐसी अवस्था में व्यवस्था स्थापना हेतु राजा की आवश्यकता होती है।"** वैदिक काल में भी यह सिद्धान्त पूर्णतः मान्य था। शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि **"समाज में जब कभी सूखा पड़ता है तो अधिक बलवान कमजोर को पकड़ लेता है। तब सशक्त शासक (राजा) की आवश्यकता होती है।"**

राजा की उत्पत्ति का एक अन्य सिद्धान्त दैविक उत्पत्ति का सिद्धान्त भी है। ऋग्वेद की एक ऋचा में त्रसदस्यु ने स्वयं के लिए अर्धदेव शब्द का प्रयोग किया तथा इसी प्रकार अथर्ववेद में राजा को इन्द्र के सदृश्य दिखलाया गया। शतपथ ब्राह्मण में राजा की तुलना इन्द्र से व ब्राह्मण की बृहस्पति से की गई थी। इसी ग्रन्थ में राजा को प्रजापति के समान बतलाने वाला विवरण भी प्रस्तुत होता है। शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र में यह प्रश्न किया गया है कि राजन्य निशाना क्यों लगाते हैं? तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार अपने दैविक आविर्भाव के कारण इन्द्र ने देवताओं पर पूर्णतः शासन किया। इस प्रकार वाजपेय के समय राजा को प्रजापति के सदृश बतलाने वाला विवरण शतपथ ब्राह्मण में ही उपलब्ध होता है। इसी ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार कुछ निश्चित विधि से अश्वमेध सम्पन्न करवाने वाले राजा को देवलोक प्राप्त होता था। इस प्रकार वैदिक साहित्य में राजा की तुलना किसी देवता से करके या उसे देव सदृश दिखलाकर उसके देवत्व को स्वीकार किया जाता था।

राजा–ब्राह्मण सम्बन्ध

राजत्व के गुणों पर विचार करते हुए यू. एन. घोषल ने कहा है कि **"ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति विराट् पुरुष से दर्शायी गयी है। ब्राह्मण विराट् पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण वे समाज में महत्वपूर्ण हुए।"** ब्राह्मण का कार्य आचार्यत्व व क्षत्रियों का क्षात्र कर्म बताया गया। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर भी यह कहा गया है कि **"राजा ब्राह्मण से निर्बल है अर्थात् ब्राह्मण उससे श्रेष्ठ है।"** ब्राह्मण ग्रन्थों में दोनों शक्तियों को एक दूसरे की सहायता करने की सलाह भी

दी गई है। शतपथ ब्राह्मण में राजसूज्ञ के अवसर पर आचार्य घोषणा करता हुआ दिखायी देता है कि **"ये तम्हारे राजा हैं और हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।"** शतपथ ब्राह्मण के अनसार यदि राजा को ब्राह्मण मिल जाता है तो इससे दोनों को सफलता की प्राप्ति होती है।

आचार्य के बिना (जो मित्रदेव का स्वरूप है) राजा को कदापि सफलता प्राप्त नहीं होती। ये ग्रन्थ राजा की क्रियाशीलता का प्रधान स्रोत ब्राह्मण को ही बताते हैं। वैदिक ग्रन्थों में आचार्य में भी दैविक शक्ति का निवास बतलाया गया थ। वैदिक साहित्य में राजा तथा पुरोहित का घनिष्ठ सम्बन्ध पूर्णतः दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित को राज्य का रक्षक या राष्ट्र गोप कहा गया। पुरोहित के प्रसन्न रहने पर राजा को स्वर्ग व राजकीय वैभव, शौर्य एवं प्रजा की प्राप्ति हुयी बतायी गयी है और यदि वह संतुष्ट नहीं रहता है तो इन सब सुखों से वह पूर्णतः वंचित हो जाता है। इस प्रकार वैदिक काल में राजा व ब्राह्मण वर्ण में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया था।

☛ विशेष

- जिस प्रकार राज्य व राजा की उत्पत्ति का आधार दैविक तत्व माना गया उसी प्रकार वैदिक साहित्य में राजा के देवत्व की कल्पना के भी कई उदाहरण प्राप्त हुए हैं।
- ऋग्वेद में राजा पुरु कुत्स को अर्धदेव कहा गया व अथर्ववेद में भी राजा परीक्षित भृत्यों में देवता कहे गये। अल्तेकर का इस विषय में मत है कि इन उदाहरणों से राजा का देवत्व पूर्णतः सिद्ध नहीं होता। उनका विचार है कि राजा में देवत्व की कल्पना तो उसके द्वारा उपकृत दरबारियों के मस्तिष्क की उपज मात्र था। वे कहते हैं कि जब सभा या समिति राजा को पदच्युत कर सकती थी तो फिर राजा के देवत्व की कल्पना का सर्वमान्य होना पूर्णतः अशक्य था।
- ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञातव्य है कि राजा की विजय होने पर तत्कालीन समय में उसे इन्द्र की उपाधि से विभूषित किया जाने लगा था। राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहता था कि उसका अभिषेक भगवान सविता के आदेश से हुआ था। ऐसा माना जाता था कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि सविता तथा बृहस्पति देवता पूर्णतः प्रवेश करते हैं।
- शतपथ ब्राह्मण से संकेतित है कि प्रजा राम की आज्ञा का पालन इसलिये करती थी कि वह प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक थी। शतपथ ब्राह्मण से पुनः संकेतित है कि समाज में यह विश्वास था कि अश्वमेध व वाजपेय यज्ञ द्वारा राजा को देवता का पद मृत्यु के बाद ही मिलता है। उत्तर वैदिक काल में जब ब्राह्मण भी स्वयं को भूदेव घोषित कर रहे थे तब राजा में देवत्व की भावना के विकास के लिये यह पूर्णतः उचित समय माना गया था। राजा में देवत्व की भावना का विकास स्मृति ग्रन्थों व पुराणों में प्रचुरता से देखा जा सकता है।

राजा का निर्वाचन

राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का मत है कि वैदिक काल के प्रारम्भ में राजा निश्चित शर्तों के आधार पर निर्वाचित होता था। आगे चलकर जब राजपद वंशानुगत हो गया तो भी अभिषेक के समय किये जानेवाले कृत्य पूर्वानुसार ही रहे।

ऋग्वेद में एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के वरण की कामना प्रस्तुत की गई थी। अथर्ववेद में विशों द्वारा राजा का वरण करने का उल्लेख भी मिलता है। अल्तेकर का विचार है कि राजा के निर्वाचन में साधारण जनता कदापि भाग नहीं लेती थी। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेखित है कि राजागण जिसे माने वही राजा होता था अन्य कोई दूसरा नहीं। राज्याभिषेक के एक मन्त्र में उल्लेख मिलता है कि अभिषिक्त राजा

अपने श्रेणी के व्यक्तियों में ही पूर्णतः प्रतिष्ठित होता था। अतः संभावना यही रहती थी कि राजा के चुनाव में जनता के नेतागण, कुलपति या विशपति ही भाग ले सकते थे। साधारण जनता उनके निर्णय पर मात्र अपनी सहमति प्रदान करती थी।

अल्तेकर कहते हैं कि उपर्युक्त विवरण का अर्थ यह नहीं है कि राजा का वैदिक काल में निर्वाचन ही होता था। उनका विचार है कि वैदिक राजा उच्चवर्गीय कुलपतियों और विशपतियों के **समर्थन** पर भी निर्भर था। इसलिए ऋग्वेद में अधिकांश राजपद आनुवांशिक दृष्टिगोचर होते थे तथा तृत्सुओं में तो चार पीढ़ी से पुत्र ही पिता की राजगद्दी पर बैठते आ रहे थे। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि संजयों का राजा, दृष्टऋतृ पौसायन की कथा (ऐतरेय ब्राह्मण 8.12) से दस पीढ़ी से प्राप्त राज्य का उल्लेख व अभिषेक के समय नये राजा को राजा का पुत्र बताया गया है। हाँ, कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर राजा को आजीवन या दो पीढ़ी के लिए अथवा तीन पीढ़ी के लिये चुनने की व्यवस्था की कल्पना कुछ शास्त्रकार अवश्य करते दिखायी दिये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में इस परम्परा के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। किन्तु इस उदाहरण से तो वंशानुगत मजूमदार का यह मत है कि ब्राह्मण काल के बाद तक भी हिन्दू राज्यों में राजपद पूर्णतः वंशानुगत नहीं हो पाया था। यह विचार वैदिक साहित्य व ब्राह्मण ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। हाँ, प्रजातंत्र, स्वराज्यों व वैराज्यों में वंशानुगत राजा की नियुक्ति हेतु कोई परम्परा नहीं दिखाता। ब्राह्मण काल अथवा उत्तर वैदिक काल समाप्त होने से पूर्व ही राजपद लगभग वंशानुगत हो गया था। इसके साक्ष्य भी दृष्टिगोचर होते हैं।

☛ <u>**विशेष**</u>

राजा के अन्य कृत्य

- राज सिंहासन पर आसीन होने के बाद उपस्थित व्यक्तियों व राजकर्ताओं एवं उससे लक्षित स्वरूप बाहु पर धारण करने की एक मणि ग्रहण करता, जो पलाश की लकड़ी की बनी हुई होती थी। इस कार्य का विस्तृत विवरण अथर्ववेद में प्राप्त होता है।
- जायसवाल का मत था कि राजा अपने पद पर आजीवन निर्वाचित होता था। इस निर्वाचन में राजकर्ता अथवा रत्नी तथा प्रारम्भ में साधारण जनता भी सम्मिलित हुआ करती थी। राजा सिंहासन पर शेर, चीते या तेंदुए का चमड़ा बिछा दिया जाता था। यह उसका वीरता सूचक चिन्ह माना जाता था। सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् नये राजा का जल सिंचन भी किया जाता था।

राज्यच्युति व पुनः निर्वाचन

- कई बार कर्त्तव्य का पालन न करने पर राजा को उसके पद से हटा भी दिया जाता था। उसे देश से निर्वासित करने की भी व्यवस्था का वर्णन दृष्टिगोचर होता था व अच्छा आचरण रखने के कारण उस राजा को पुनः राज सिंहासन पर आसीन कर दिया जाता था। अथर्ववेद में इस प्रकार के उदाहरण देखने को मिले हैं जिसमें राजा द्वारा अपने निर्वाचकों से समझौता किया गया था।
- शुक्ल यजुर्वेद में सौत्रामणि यज्ञ का विधान प्राप्त होता है। जो पदच्युत राजा को पुनः पद प्राप्ति पर करना पड़ता था। कृष्ण यजुर्वेद व तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इस परम्परा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय राजच्युति की व्यवस्था पूर्णतः निहित थी।

<u>**राजा के कर्त्तव्य**</u>

निर्वाचित राजा अथवा नये राजा से यह आशा की जाती थी कि वह अपनी प्रजा के लिये धन–वैभव प्राप्त करने का हरसंभव प्रयास करेगा। अथर्ववेद में भी इसका उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में कुरू देश के राजा परीक्षित के राज्य के वैभव का उल्लेख पूर्णतः दृष्टव्य है। जहाँ पत्नी अपने पति से पूछती है कि

मैं तुम्हारे लिये क्या लाऊँ दही, मट्ठा अथवा सुरा? अर्थात कुरू देश में स्त्री अपने प्यासे पति को पानी जैसा साधारण पदार्थ देने का विचार भी नहीं करती थी। राजा की उत्पत्ति दैविक भी मानी गयी इसलिए उसका कर्त्तव्य धर्म को स्थिर रखना भी था। कुछ विद्वानों ने तो राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को परिवर्तित करते हुए राजा को प्रजा का सेवक मात्र बताया है। जायसवाल का मत है कि **"जो राजा धोखेबाज और स्वार्थी होता है उसका नाश हो जाता है।"** अथर्ववेद में राजा हेतु यह उल्लेखित है कि **"वह तेजस्वी हो ताकि प्रजा उसका प्रताप देखकर सम्मान करने लगे।"** राजा प्रजा का संरक्षण करने वाला व शत्रु के घातक आक्रमण से उसकी रक्षा करने वाला होना चाहिए।

राजा पर नियन्त्रण

प्रायः यह विचार प्रकट किया जाता है कि प्राचीन काल भारत में राजा सदैव निरंकुश ही था। किन्तु यह विचार पूर्णतः सत्य नहीं है। वैदिक काल का ही उदाहरण लें तो ज्ञात होता है कि सभा, समिति व विदथ जैसी संस्थाएं सदैव राजतन्त्र को नियन्त्रित रखने हेतु उपस्थित थीं। इन संस्थाओं में समिति तथा रत्निन परिषद राजतन्त्र का प्रमुख आधार बतायी गयी।

● वैदिककालीन संस्थाएँ

वैदिक काल में सभा और समिति का महत्वपूर्ण अपना स्थान था। अथर्ववेद के एक सूक्त में उन्हें प्रजापति की जुड़वा दुहिताएं भी कहा गया है। सम्भवतः ये ईश्वर निर्मित संस्थाएं ही थी। जो राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ अस्तित्व में आई थी। वैदिक काल में विद्वानों की यह आकांक्षा रहती थी कि समिति उनकी योग्यता भी स्वीकार करे। विवाह के समय नववधू से भी यह कामना की गई कि वह समिति को अपने भाषण से पूर्णतः नियन्त्रित करे।

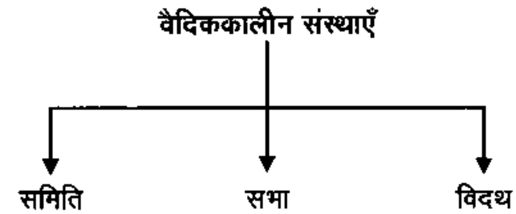

समिति

समिति वैदिक काल के पूर्वजों की सबसे बड़ी संस्था मानी गयी थी। समिति से अभिप्राय है कि **"सबका एक जगह मिलना।"** समिति जन विश या राज्य की राष्ट्रीय व्यवस्थापिका सभा मानी गयी थी। अथर्ववेद के मन्त्रों से ज्ञात होता है कि लोग कामना करते थे कि समिति में, मेरा विपक्षी, विवाद में मुझे जीत न सके व जो लोग मेरे विरुद्ध होकर विवाद करे, वह उनके विवाद को दबा दे तथा उन्हें शक्तिहीन कर दे। जायसवाल का इस पर मत है कि समिति राजनीतिक कार्यों के अलावा कुछ अन्य कार्यों हेतु भी स्थापित थी। छान्दोग्य व वृहदारण्यक उपनिषदों से ज्ञात होता है कि कई बार युवक शिक्षा समाप्त करने के बाद समिति में उपस्थित होता था तब उससे वहाँ शास्त्र सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते थे जिसके संतोषजनक उत्तर देने पर ही उसे शिक्षित होने का गौरव मिलता था। इस प्रकार समिति राष्ट्रीय विद्यापीठ का कार्य भी करती थी। समिति विकसित वैदिक समाज की संस्था भी मानी गयी थी। वाद विवाद की उन्नत अवस्था, दूसरों की सम्मति पर विजय प्राप्ति की आकांक्षा उन्नत सभ्यता के लक्षण माने जाते हैं।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि समिति में सम्मिलित होने के लिए लोगों को परस्पर आमन्त्रित किया जाता था। ऋग्वेद में राजा को समिति में सम्मिलित होने के लिये निर्देश दिए जाने का उल्लेख प्राप्त होता

है। समिति सभा की तुलना में एक बडी संस्था मानी गयी थी व यह माना जाता था कि वह सम्पूर्ण विशः अथवा प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार सम्भवतः राष्ट्र के अन्तर्गत सब ग्रामों के ग्रामीण उसमें सम्मिलित होते थे व साथ ही विशः के कतिपय प्रमुख व्यक्ति सूत्र, रथकार व अन्य शिल्पी आदि भी उसमें उपस्थित माने जाते थे। समिति का प्रशासन व सेना पर अधिक प्रभाव माना गया था। राजा के अधिकारी से उसका सामंजस्य कैसे होता था, इस विषय के पूर्ण साक्ष्य प्राप्त नहीं हुए। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति व पुरोहित इसके सदस्य माने गए थे। संदर्भों से ज्ञात होता है कि राजा समिति द्वारा निर्वाचित और पुनः निर्वाचित होता था। झिमर के अनुसार यह निर्वाचन राजतन्त्री था व वहाँ समिति के इकट्ठे विश द्वारा ही राजा का निर्वाचन सम्पन्न होता था। घोषाल के अनुसार समिति यदि राजा का निर्वाचन करती रही हो तो इसमें असंभव जैसा कुछ भी नहीं था। राजा समिति के कार्य में पूर्णतः मार्गदर्शन भी करता था तथा इस प्रकार समिति राज्य व्यवस्था का आवश्यक अंग कहलायी। सोमरस के लिये जैसे घड़ा अवश्य होता है, वैसे ही राजा के लिए समिति अवश्य मानी गयी थी। जायसवाल का मत है कि समिति के पति (अध्यक्ष) को ईशान कहा जाता था। राजा का प्रयास रहता था कि सभा व समिति आपस में मिलकर कार्य करें। यह आवश्यक समझा जाता कि दोनों के सदस्यों का मन एक ही हो व उनकी वाणी एक हों तथा उसका विचार विमर्श एक समान हो और वे एक ही मंत्र (नीति) का निर्धारण करें। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में समिति के सदस्यों से यह आकांक्षा की गई है कि **"तुम्हारा मन्त्र एक समान हो, तुम्हारी समिति एक समान हो, तुम्हारा मन और चित्त एक समान हो। तुम्हारे निर्णय समान रूप से हों, तुम्हारे हृदय एकमत हों, तुम्हारे मन एक समान हो, जिससे तुम प्रसन्नतापूर्वक एकमत वाले होकर रह सको।"** समिति में वक्ता दूसरे सदस्यों को अपने अनुकूल बनाने का निरन्तर प्रयास करते थे। अथर्ववेद में यह प्रार्थना की गई है कि, **"यहाँ (समिति में) जो लोग उपस्थित हैं, मैं उनके तेज और ज्ञान को ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्र! मुझे इस सम्पूर्ण संसद का नेता बनाओ। जो तुम्हारा मन किसी अन्य ओर गया हुआ है या तुम्हारा मन जो किसी बात को पकड़ कर बैठ गया है, मैं तुम्हारे मन को वहाँ से हटाता हूँ, तुम्हारा मन मेरे अनुकूल हो जाएं।"** राजा की सत्ता स्थिर रहे तथा उसके लिए समिति का उसके अनुकूल होना आवश्यक बताया गया था। स्वेच्छाचारी राजा होने पर समिति कभी भी उसकी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकती थी। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण का धन अपहरण करने वाले राजा का समिति कभी साथ नहीं दे सकती थी। समिति में कभी–कभी वाद–विवाद तीव्र हो जाने व गरमागरम बहस भी हो जाने के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल में समिति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्था थी जो ब्राह्मण काल तक पहुंचते ही प्रायः लुप्त हो गई थी। उपनिषदों में समिति का पुनः उल्लेख भी मिलता है। इस समय कभी–कभी राजा स्वयं भी समिति की अध्यक्षता करता था। सम्भवतः राज्यों का आकार बढ़ जाने से समिति जैसी संस्था का कार्य करना पूर्णतः असम्भव हो गया क्योंकि वर्तमान प्रतिनिधित्व प्रणाली का उन दिनों विकास तक नहीं हुआ था।

सभा

वैदिक काल की राजनीतिक संस्थाओं में सभा का भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान था। आधुनिक विद्वानों का मत है कि वैदिक सभा में पुरोहित, धनिक व उच्च वर्ग के लोग ही सम्मिलित होते थे। एक अन्य विचार के अनुसार सभा ग्राम व समिति सम्पूर्ण राज्य की संस्था ही होती थी। हिलेब्रांड का इस विषय में मत था कि **"सभा और समिति एक ही संस्था थी। सभा उस स्थान का नाम था जहाँ लोग एकत्रित होते थे और समिति एकत्रित समूह को कहा जाता था।"** अल्तेकर ने अथर्ववेद के आधार पर इस विषय में लिखा है कि **"सभा और समिति अलग–अलग संस्थाएं थीं।"** ऋग्वेद में भी यह उल्लेख

मिलता है कि सभा में प्रायः गायों की भी चर्चा की जाती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों से संकेतित है कि सभा गाँव की सामाजिक गोष्ठी थी परन्तु आवश्यकता पड़ने पर वह छोटे मोटे ग्राम व्यवस्था के मामले को भी निपटा लेती थी। पुरूषमेध यज्ञ विवरण से संकेतित होता है कि सभा और सभासदों का न्यायदान कार्य से घनिष्ठ संबंध था। किन्तु कुछ राज्यों में सभा राजा से पूर्णतः सम्बन्धित संस्था होती थी। इस प्रकार यह एक सामाजिक संस्था न होकर केवल राजनीतिक संस्था थी। अथर्ववेद में यम के सभासदों को राजसी पद देने का उल्लेख हैं। अल्तेकर लिखते हैं कि, **"मृत्युलोक के सभासद का पद भी स्वर्ग लोक के सभासदों के समान राजसी था और वे भी राजा को कर और शुल्क से होने वाली आय में से कुछ अंश प्राप्त करने के अधिकारी था।"** ऋग्वेद के एक उदाहरण में सभासद के वैभव व रथ में सवार होकर जाने का विवरण भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि सभासद कोई उच्च अधिकारी भी नियुक्त था। किन्तु अधिकांश उद्धरण यह भी दर्शाते हैं कि सभा प्रायः ग्राम्य संस्था थी जो सामाजिक एवं राजनीतिक मामलों पर विचार ही करती थी। जायसवाल ने अपने सर्वाधिक लोप्रिय ग्रन्थ **"हिन्दू राज्यतन्त्र (प्रथम खण्ड) में"** सभा को सार्वजनिक संस्था कहकर पुकारा।

सभा में भी समिति की भांति कई बार अप्रिय विवाद उत्पन्न हो जाया करते थे। सभा को नरिष्टा कहकर पुकारा जाता था व सायण के अनुसार **"वह संस्था जिसके निर्णय को बदला न जा सके सभा कहलायी।"** सभा में सब लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रस्तुत करते थे किन्तु जो निश्चय कर लिया जाता था उसका कोई सदस्य उल्लंघन नहीं कर सकता था यह भी सुनिश्चित था। सभा के संगठन व उसके समिति से सम्बन्धों पर भी सामग्री का पूर्णतः अभाव दृष्टिगोचर है। सभा का वास्तविक तात्पर्य **"उस समूह होता है जिसमें सब लोग एक साथ मिलकर प्रकाशमान हो।"** इससे स्पष्ट है कि सभासद आदर के पात्र हुआ करते थे। सभा का प्रधान अधिकारी सभापति भी कहलाता था। इसमें ग्राम के वृद्ध व्यक्ति भी सम्मिलित हुआ करते थे। शुक्ल यजुर्वेद में उल्लेख मिलता है कि सभा में किये हुए अपराधों के लिये लोग पश्चात्ताप करते थे। सभा से लौटकर (न्यायिक कार्य कर) सफलतापूर्वक आने वाले के मित्रों को प्रसन्न व आनन्दित कहा गया और स्वयं लौटकर आने वाले को कलंक या अपराध से रहित बताया गया है। जायसवाल का मत है कि समिति के आरम्भिक काल की भांति सभा का प्रारम्भ काल ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण में ही समझा जाए। परवर्तीकाल में सभा के अधिकार राजा में केन्द्रित हो जाने से समिति की तरह उसका अस्तित्व भी समाप्त हो गया। परन्तु सभा के न्याय सम्बन्धी कार्य के तत्व आगे भी समान बने रहे। जिनका व्यवहार में प्रयोग राजा की न्यायसभा में दृष्टिगोचर होता था। घोषाल का मत है कि **"सभा समिति की तरह जन संस्था थी।"** आर. एस. शर्मा का यह मत है **"सभा प्रारम्भ में जनजातीय और सार्वजनिक संस्था थी और बाद में अभिजातीय बन गई, जबकि समिति ने उत्तर वैदिक काल में अपना जनरूप कायम कर लिया।"**

विदथ

वैदिक काल की एक अन्य प्राचीन संस्था विदथ भी थी, जिसे सभा व समिति से भी प्राचीन माना जाता है। जायसवाल के मतानुसार **"यह सर्वसाधारण की सबसे पहली मूल संस्था थी जिससे सभा, समिति और सेना की उत्पत्ति हुई।"** विदथ का सम्बन्ध नागरिक, सैनिक व धार्मिक तीनों प्रकार के कार्यों के साथ दिखलाई पडता है। विदथ सम्भवतः विद्वानों की सभा ही थी। किन्तु शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में इस संस्था के नाम का प्रयोग न होने से विद्वान् इसका विवेचन नहीं कर पाए हैं। अथर्ववेद में विदथ, बाईस बार आया है। विदथ का उल्लेख ऋग्वेद में अधिक व अथर्ववेद में अपेक्षाकृत कम किया गया है। वाजसेनयी संहिता तथा तैत्तिरीय आरण्यक में भी विदथ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है। स्पष्ट है कि विदथ

ऋग्वैदिक काल में लोकप्रिय थी जबकि सभा–समिति उत्तर वैदिक काल में लोकप्रिय हुयी थी। ओल्डनबर्ग विदथ का अर्थ वितरण, निबटाना व अध्यादेश को बताते हैं। जबकि ब्लूमफील्ड विदथ का तात्पर्य स्वतत्व, ज्ञान व सभा से लेते हैं। राथ की मान्यता है कि विदथ धर्मेतर, धार्मिक तथा सैनिक ये तीनों प्रकार के कार्य ही करने वाली संस्था थी। जायसवाल का यह विचार था कि **"विदथ वह मूल संस्था थी जिससे सभा समिति उद्‌भूत हुई।"** ऋग्वेद से संकेतित है कि घोषा विदथ में सम्मिलित हुई थी तथा स्त्रियाँ विदथ में चुपचाप न बैठकर उसके वाद–विवाद में भी भाग लिया करती थीं। विवाह समारोह में ऐसी कामना की गई कि वधू केवल गृहणी के रूप में नहीं अपितु नियन्त्रण रखकर विदथ में भी अपना वक्तव्य प्रस्तुत करे। ब्लूमफील्ड के अनुसार कि **"स्त्रियां जन सभा या सभा में सम्मिलित नहीं होती थीं।"** आर. एस. शर्मा इस मत से असहमत थे। उनके अनुसार **"विदथ स्परूप जनजातीय था। विदथ में बडे बूढ़ों को महत्व दिया जाता था। विदथ जनजातीय मामलों के विनियमन के लिए विधि और नियम बनाती थी व विदथ खाद्य पदार्थों के वितरण की भी उचित व्यवस्था करती थी।"** ऋग्वेद में विदथ का जो उल्लेख मिलता है उससे उसका सामरिक स्वरूप का भी पता चलता है। विभिन्न देवताओं के आह्वान में विदथ को वीरों से भरा हुआ दिखलाया गया है व इन्द्र का विदथ का नायक या युद्ध का नेता कहा जाता था। विदथ में उपस्थित लोग इन्द्र, मित्र वरुण, विश्वदेवा और अन्य देवों की उपासना भी करते थे। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि यह संस्था बाद में धार्मिक निकाय का रूप भी ग्रहण कर चुकी थी। विदघ गानस्थल भी था जहाँ पर देवताओं को हवि उनके गुणगान के रूप में निरन्तर अर्पित किया जाता था। इस प्रकार वैदिक काल में विदथ के विवध रूपों में दृष्टिगोचर थी। विदथ में सम्राट भी उपस्थित होते थे परन्तु इसका रूप किसी भी समिति में अभिजातीय नहीं था। समिति की तुलना में यह छोटी संस्था मानी गयी थी।

☛ विशेष

- राजा निर्वाचित हो अथवा वंशानुगत पद प्राप्त करने के बाद उसे कुछ यज्ञ करने ही पड़ते थे।
- उत्तर वैदिक काल में राजा के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में कुछ धार्मिक कृत्यों व परम्पराओं का विकास हुआ। जायसवाल ने इन कृत्यो पर विस्तृत प्रकाश डाला। उनका विचार था कि कोई राजा इन कृत्यों के बिना राजत्व प्राप्त नहीं कर पाता था।
- राजा को अभिषिक्त करने के लिये तीन प्रकार के यज्ञों का उल्लेख भी मिलता है। उनमें से प्रथम राजसूय यज्ञ था जिससे सम्पन्न कर व्यक्ति राजपद का अधिकारी बन जाता था। द्वितीय वाजपेय यज्ञ था जिसे करके राजा राजर्षि या राज धर्माधिकारी का पद धारण करता था। तृतीय यज्ञ सर्वमेध था जिसे सम्पन्न कर व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने का अधिकारी बनता था। इनमें वाजपेय यज्ञ राजनीतिक नहीं माना गया था। बाद में यह यज्ञ भी राजकीय अभिषेक उत्सव से जुड़ गया था। सर्वमेध यज्ञ केवल सम्राट ही किया करते थे। अतः राज्याभिषेक राजसूय यज्ञ से ही सम्पन्न होता था।
- शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि, **"राज्ञ एवं राजसूयम्। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति ....। अर्थात राजा के लिये ही राजसूय है, क्योंकि राजसूय यज्ञ करने से ही वह राजा होता है।"**
- राजसूय के तीन अंग थे। प्रथम अंग में यज्ञ व होम सम्मिलित थे, जिनके सम्पन्न होने पर राजा अभिषेचनीय कहलाता था। अभिषेचन में राजा को पवित्र करने हेतु उस पर जल भी छिड़के जाने का वर्णन बताया गया था। यद्यपि अभिषेचन के पश्चात् भी कुछ अन्य धार्मिक यज्ञ एवं कृत्य किये जाते थे किन्तु उनमें अभिषेचन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया था।

- जिस व्यक्ति का अभिषेचन होता था उसे पहले 'वह' और फिर 'राजा' कहकर इंगित किया जाता था अर्थात् वह व्यक्ति अभिषेचन के बाद ही राजपद का अधिकारी होता था। इससे पूर्व वह एक सामान्य नागरिक के समान ही समझा जाता था।

राज्यभिषेक संबंधित चरण

राजा के राज्यभिषेक को निम्न चरणों द्वारा समझा जा सकता है।

राज्यभिषेक सम्बन्धित चरण

रत्नहवि
↓
देव स्तुति
↓
अभिषेचन जन संग्रह
↓
अभिषेचन
↓
अधिकार ग्रहण घोषणा
↓
राजपददान
↓
अभिषेकेतर कृत्य
↓
अधीनता स्वीकृति
↓
शासन सूचक क्रीड़ा
↓
राजपद प्रतिष्ठा

रत्न हवि

प्रारम्भ में निर्वाचित होने वाले या नये राजा को सेनानी, पुरोहित, राज–महिषी, स्वयं राजा अपने यहाँ, सूत्र, ग्रामणी, क्षत्रिय, संग्रहित, भागदुह, पालागल, अक्षवाथ, गोविकर्तृ के यहाँ जाकर रत्न हवियां ही देनी पड़ती थी। रत्नी ग्यारह होते थे किन्तु रत्न हवि 12 स्थानों पर देत्य थी। इसका विवरण शतपथ ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में दृष्टिगोचर होता है। रत्नी उच्च राज्य कर्मचारी या अधिकारी हुआ करते थे। राजा उन्हें हवि प्रदान कर मानों उनका समर्थन ही प्राप्त करता था। रत्निन प्रायः विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि माने जाते थे। क्योंकि जब राज्यों का विस्तार हो गया तो सम्पूर्ण जनता को आमन्त्रित करना उसके लिए असम्भव था। इसलिये अब प्रतीक स्वरूप उनके प्रतिनिधियों से काम चलाने हेतु इस परंपरा का विकास किया गया। इस परम्परा में महत्वपूर्ण बात यह थी कि राजसिंहासन ग्रहण करने वाले व्यक्ति को हीन जाति के व्यक्ति का भी पूजन करना पड़ा क्योंकि वह भी समाज का आवश्यक अंग ही था। रत्नियों के पूजन के समय उनमें से प्रत्येक भी समाज का आवश्यक अंग माना गया था। रत्नियों के पूजन के समय उनमें से प्रत्येक को कहा जाता था कि **"हम तुम्हारे लिये ही इस प्रकार अभिषिक्त होते हैं और तुम्हें अपना निष्ठ अनुगामी बनाते हैं।"** रत्नी राजा के राजपद ग्रहण करने के पूर्व ही विद्यमान थे। वे सम्भवतः समिति के सदस्य थे और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया था तथा उनका पद आधुनिक मन्त्रियों के समान ही था।

देव स्तुति

राजा राज्यारोहण से पूर्व राष्ट्र के विभिन्न अंगों व स्वयं पृथ्वी से अनुमति प्राप्त करता हुआ बताया गया। शतपथ ब्राह्मण में राजा द्वारा कहा गया है कि **"मैं पृथ्वी को प्रसन्न करता हूँ ताकि उसकी आज्ञा पाकर मैं अभिषिक्त हो सकूँ।"** राजा रत्निनों को हवि प्रदान करने के बाद सोम तथा रुद्र को चरु भी प्रदान करता था। अभिषेचन से पूर्व राजा अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र और वरुण की स्तुति करता तथा कुछ देवताओं को बलि अर्पित करता हुआ दिखाया गया। ताकि वे देवता राजा को अपने गुणों से युक्त कर सकें। वरुण राजा को धर्म का रक्षक बनाता है।

अभिषेचन जन संग्रह

राजपद पाने वाले राजा का अभिषेचन करने हेतु देश भर के जलाशयों, नदियों, समुद्रों व तालाबों का जल संग्रह किया जाता था। प्रत्येक स्थान से जल लेते समय उस जल स्रोत से प्रार्थना की जाती कि वह अमुक नाम के राजा को राजत्व प्रदान कर दे। उन दिनों यह भी माना जाता था कि देवता लोग व्यक्ति को शासन करने की योग्यता देने की शक्ति भी रखते हैं। उसे राजत्व उसके राष्ट्र के जलाशय ही दे सकते थे।

अभिषेचन

राजा पर दोहरा अभिषेचन होता था तथा प्रारम्भ में विभिन्न वर्गों या वर्णों के प्रतिनिधि उस पर विभिन्न नदियों व जलाशयों का एकत्र किया हुआ जल छिड़कना शुरू करते थे। फिर पुरोहित, राजा के राज सिंहासन पर आरूढ़ होने से पूर्व अभिषेचन भी करते थे। मित्रावरुण की वेदी के सामने सिंह की खाल बिछाई जाती थी व जिस पर राजा को आरूढ़ किया जाता था। फिर एक एक कर चार आदमी अभिषेचन करते थे। प्रथम व्यक्ति ब्राह्मण, द्वितीय निर्वाचित राजा के कुल या गोत्र का कोई व्यक्ति, तृतीय राजन्य या क्षत्रिय और चतुर्थ वैश्य का होता था। जायसवाल का इस विषय में मत है कि **"परवर्ती काल में शुद्र भी इस समारोह में भाग लेने लगा था।"** परवर्ती साहित्य में इसके पश्चात् राजा द्वारा रेशमी वस्त्र तथ मुकुट धारण करने की परम्परा मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में इस विधान का कहीं भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

अधिकार ग्रहण घोषणा

इस प्रकार अभिषेचन के बाद राजा सिंह की खाल पर ही खड़ा रहता था। पुरोहित उसे एक धनुष और बाण प्रदान करता था। तब राजपुरोहित मंत्रोच्चारण करता रहता था जिसका आशय यह बताया गया था कि, **"तू आगे की ओर से राजा की रक्षा कर।"** तत्पश्चात् फिर मन्त्रोच्चारण जारी रहता जिसके द्वारा अग्नि, इन्द्र, मित्र, अदिति और वरुण को राजा की रक्षा हेतु ही सूचना दी जाती या यह राजा के राजपद पर अधिकार करने की घोषणा मात्र थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राजा राज्याभिषेक के इस शुभ अवसर पर शपथ ग्रहण करता था जो इस प्रकार बतायी गयी **"रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और रात्रि में ही मरूं, यदि मैं तुम्हें पीडित करूं तो मैं अपने समस्त शुभ कर्मों, अपने स्वर्ण, जीवन और अपने वंश से वंचित होऊं।"** ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यह व्रत सभी प्रकार के शासन विधानों में ही ग्रहण किया जाता था।

इस घोषणा के उपरान्त राजा काष्ठ के सिंहासन पर विराजता था। जिस पर शेर की खाल बिछी होती थी तथा इस अवसर पर मन्त्रोच्चारण किये जाते थे व उनमें सभी वर्गों के प्रतिनिधियों से कहा जाता था कि वे नये राजा की बहुमूल्य कोष की भांति रक्षा करें। इस अवसर पर उच्चारित मन्त्रों को थोड़े परिवर्तन के साथ महाभारत में भी प्रस्तुत किया गया है। नव नियुक्त राजा सिंहासन पर आरूढ़ होने से

पूर्व सोने के एक पत्तर पर पैर रखा करता था जिसमें 100 या 9 छिद्र हुआ करते थे। उस पत्तर के छेदों से पुरोहित राजा पर जल का अभिषेक किया जाता था। वाजसनेयी संहिता में इस सम्बन्ध में जो मंत्र दिये गये हैं उनका अर्थ है **"सोम के वैभव से मैं तुझे अभिसिंचित करता हूँ, अग्नि के तेज से, सूर्य से प्रताप से, इन्द्र के बल से, मैं तुझे अभिसिंचित करता हूँ। तू क्षत्रपतियों का क्षत्र रक्षक हो। हे देवताओं, अमुक पुरूष तथा अमुक के पुत्र और अमुक विश या प्रजा के स्वामी को तुम क्षात्रधर्म के लिये, महत्ता के लिये, विशाल राष्ट्रीय शासक के लिये और इन्द्र के बल के लिये अनुपम बनाओ। हे प्रजा वर्ग के लोगों यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है; यह हम ब्राह्मणों का सोम है।"** सोम वनस्पतियों का देवता है व जीवनदाता माना गया है इसलिए वह ब्राह्मणों का देवता माना जाता था। कहीं–कहीं इस समय उच्चारित मन्त्रों की यह व्याख्या भी की जाती है कि वह निर्वाचित राजा ब्राह्मणों का नहीं था वरन् उनका राजा तो सोम था। किन्तु यह व्याख्या उचित नहीं मानी गयी है। कुछ ब्राह्मणों ने इस व्याख्या को स्वीकार करके कहना प्रारम्भ कर दिया कि राजा को उनसे कर लेने का अधिकार नहीं था। जबकि ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मण राजा के अधीन ही थे। वाजसनेयी ब्राह्मण उपनिषद् में ब्राह्मण को राजा के अधीन बताता है और कहा गया है कि क्षत्र या राजा से ऊपर कोई नहीं है, इसलिए राजसूय में ब्राह्मण को क्षत्रिय से नीचे बैठना अनिवार्य था। जायसवाल का मत है कि जब तक राजा का अभिषेक नहीं होता तब तक ब्राह्मणों को सोम के अधीन ही माना जाता था। जब राजा का अभिषेक हो जाता था तो नया राजा उन सभी का भी राजा बन जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण राजा के सम्बन्ध में यह कहता है कि वह ब्राह्मणों और धर्म का रक्षक है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण का विवरण यहाँ कुछ भ्रांति उत्पन्न करता हुआ दृष्टिगोचर हुआ है।

राजपद दान

राजा के पद अधिग्रहण की घोषणा के पश्चात् वह तीन सीढ़ियां चढ़ता था। तब पुरोहित पुनः मंत्रोच्चारण करता था जिसका अर्थ यह था– **"तुझे यह राष्ट्र दिया जाता है, तू संचालक और नियामक है, तू ध्रुव (दृढ़) और धारण करने वाला (इस राज्य का उत्तरादायित्व का) है। तुझे (यह राज्य दिया जाता है) कृषि के लिये, क्षेम के लिये सम्पन्नता के लिये, पोषण या वर्धन के लिये।"** जब प्रथम वाक्य पूर्ण हो जाता तब राजा को नीचे बैठा दिया जाता था। व्याख्याकारों का इस विषय पर मानना है कि इस मन्त्र के आधार पर मनुष्य को राजत्व प्राप्त हुआ। राजा को जिस उद्देश्य के लिये राज्य प्रदान किया जाता था वह सब प्रकार की सुख सम्पन्नता था।

अभिषेकेतर कृत्य

अब राजा सिंहासन से नीचे उतरकर और जंगली सूअर के चमड़े के जूते पहन कर चार घोड़ों के रथ पर चढ़कर कुछ दूर तक जाता था। अभिषेक सम्पन्न होने के बाद राजा की सवारी निकालने की जो परम्परा विकसित हुई थी उसका मूल इस प्राचीन कृत्य में विद्यमान था। इसके बाद राजा पुनः लौटकर सिंहासन के पास आता था व फिर उस पर विराजमान होता था। तत्पश्चात् पुरोहित कहता था **"तू इस सुखद और कोमल सिंहासन पर बैठ।"** तत्पश्चात् एक विलक्षण कृत्य होता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार तत्पश्चात् एक डंडे से बहुत कोमलतापूर्वक राजा की पीठ को स्पर्श किया जाता था।

अधीनता स्वीकृति

राजा के अभिषेक के उपरान्त एक अन्य कृत्य होता था जो लोगों द्वारा राजा की अधीनता ग्रहण करता था। राजा सिंहासन पर बैठ जाता था, तब उसके नीचे चारों ओर उसे घेर कर सब रत्नी, ब्राह्मण, पुरोहित, सरदार और ग्रामणी तथा अन्य लोग बैठा करते थे। सबसे पहले ब्राह्मण आधीनता स्वीकार करते थे। वे यह

कार्य दो रूपों में सम्पन्न करते थे। प्रथम, ब्राह्मण वर्ण के रूप में और द्वितीय, रत्नियों की समी के सदस्य एवं पुरोहित के रूप में था। राजा स्वयं विभिन्न लोगों की अधीनता स्वीकृत करने से पूर्व पृथ्वी की अधीनता स्वीकृत करता था। वह कहता कि **"हे पृथ्वी माता न तो तुम मुझे कष्ट पहुंचाओं और न मैं तुम्हें कष्ट पहुंचाऊं।"** इसके उपरान्त राजा ब्राह्मण को सम्बोधित कर पुनः कहता है। **"हे ब्राह्मण!"** परन्तु ब्राह्मण उसे बीच में ही रोक कर कहता – **"तू ब्राह्मण है, तू सच्चा बलशाली वरुण है, तू ब्राह्मण है और समस्त विश के बल से बलिष्ठ है।"** राजा ब्राह्मण एवं पुरोहित को इस प्रकार पाँच बार सम्बोधित करता। तत्पश्चात् ब्राह्मण या पुरोहित राजा को एक तलवार देता। यह तलवार राजा अपने अधिकार के चिह्न स्वरूप राज्य के समस्त अधिकारियों और ग्रामणियों को दे देता था। फिर उन लोगों से सहयोग करने के लिए कहकर पुकारता है कि, **"इसके द्वारा मेरी और से शासन करो, जिसका दूसरा अर्थ था मेरी सेवा करो।"**

शासन सूचक क्रीड़ा

अब अन्तिम विधि के रूप में राजा रत्नियों के साथ पासा फेंककर खेल खेला करता था। इस क्रीड़ा में दांव पर एक गाय लगाई जाती थी जिसे समाज के किसी साधारण सदस्य द्वारा लाया जाता था। इस खेल से अभिप्राय उस व्यक्ति से था जो खेलने वालों के साथ उत्पन्न हुआ था और राष्ट्र या प्रजा का अंग था। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति से गाय को ले जाना राजा के मैत्री, करुणा व प्रेम के भाव को दर्शाता था।

राज पद प्रतिष्ठा

वैदिक काल में राजा का पद गौरवपूर्ण एवं प्रतिष्ठित था तथा ऋग्वैदिक काल में शासक केवल राजा की उपाधि ही धारण करता था। उसका राजमहल भी अधिक भव्य नहीं था तथा वह अनेक आभूषण एवं चमकीली पोशाक पहनता था। राजा को उपहार या बलि देने की परम्परा भी विद्यमान थी। यद्यपि यह उपहार ऐच्छिक था। युद्ध के दौरान राजा को जो धन लूट में मिलता उसका कुछ भाग सैनिकों को भी बांट दिया जाता था। उत्तर वैदिक काल में राजा की प्रतिष्ठा में और अधिक वृद्धि हो गयी थी। अब राजा का अभिषेक ठाट–बाट से होने लगा था। इस काल में उसकी राजधानी सजी हुई और आकर्षक होती थी। उनका पशुधन विशाल था व उनकी निजी जमीन भी अत्यधिक विस्तृत थी। अथर्ववेद के अनुसार राजा अतुल्य योद्धा था, प्रजा में उसका स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। उसकी सम्पत्ति विपुल तथा लोग राजा के क्रोध से डरा करते थे। राज्य से अधिकारी शासन संचालन में उसकी सहायता भी करते थे। राजा अब महाराज, सम्राट व अधिराट जैसी उपाधियां धारण करने लगे थे। इस विषय का तात्पर्य यह है कि उत्तर वैदिक काल में राजपद के साथ दिखावा अधिक बढ़ गया था।

● मन्त्रिमण्डल सम्बन्धी विचार

ऋग्वेद की एक ऋचा में बाधा पहुंचाने वाली असुर परिषदों को अपने वज्र से नष्ट करने हेतु इन्द्र से प्रार्थना को भी दर्शाया गया है। इसी ग्रन्थ से ज्ञातव्य है कि वसु देवता के परिषदवान नृषद के पुत्र का वध करने के इच्छुक थे। ऋग्वेद में गायों से सम्पन्न परिषद का नाम भी सामने आया है। किन्तु ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में राजा के मन्त्रिमण्डल का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्य के कुछ प्रमुख अधिकारियों की चर्चा अवश्य देखी जाती है। इन राज्याधिकारियों को रत्नी कहा जाता था जो सम्भवतः राजपरिषद के सदस्य थे। रत्नियों की जो सूची मिलती है उसमें राजपरिवार के सदस्यों, विभागों के अध्यक्षों व दरबारी गणों के नाम पूर्णतः सम्मिलित हैं। युवराज का रत्नियों में नाम कहीं नहीं मिलता परन्तु पटरानी का नाम अवश्य मिलता है। रत्नियों में पुरोहित अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया था। वह यज्ञ द्वारा राजा की युद्ध में रक्षा भी करता था। अन्य रत्नियों में हमें सेनानी, सूत्र, ग्रामणी,

संगृहीता व भागधुक का नाम ही दृष्टिगोचर होता है। सेनानी सेनापति, सूत्र, रथ, सेना का नायक, ग्रामणी गांव के मुखियों में प्रधान व भागधुक कर संग्रह का कार्य करने वाले अधिकारी भी सम्मिलित थे। रत्नियों की सूची में **"क्षता, अक्षावाथ गोविकर्ता और पालागल"** आदि दरबारी श्रेणी के लोग भी आते थे। क्षता राजा का परिवार्श्वक ही था। घोषाल उसे भोजन बांटने वाला बताते हैं। अक्षावाथ द्यूत विभाग का अध्यक्ष था। पालागल का तात्पर्य रथकार या दूत से ही लिया जाता है। गोविकर्तृ जंगलात विभाग का अध्यक्ष बताया गया। रत्नियों की सूची में राजन्य नाम भी दृष्टिगोचर होता है। तैत्तिरीय संहिता में निर्वाचित होने वाले राजा को राजन्य कहा गया है तथा इस प्रकार वैदिक काल में रत्नि परिषद से पटरानी, युवराज, राजन्य आदि राज परिवार से व पुरोहित, सेनानी, अक्षावाप, सूत्र, भागधुक्, आदि जनता में से सदस्य निर्वाचित थे। वैदिकयुग में रत्नियों का स्थान आधुनिक मन्त्रियों के समान ही था। ऐतिहासिक काल में **"रत्निन"** शब्द का मूल अर्थ बदल गया और मन्त्री तथा अमात्य जैसे शब्दों का प्रचलन मन्त्रिपरिषद के मूल आधार के तत्व ही बताया गया।

● वैदिक गण का विवेचन

प्राचीन भारतीय गणराज्यों को महत्व प्रदान करने का श्रेय डा. काशी प्रसाद जायसवाल को दिया गया है। उनका विचार है कि ऋग्वेद व अथर्ववेद की ऋचाओं से संकेतित है कि भारत में गणतन्त्रात्मक शासन का उदय राजतन्त्र के काफी बाद व पूर्व वैदिक काल के पश्चात् हुआ। इस मत से असहमत प्रो. आर. एस. शर्मा का विचार है कि गण का उल्लेख ऋग्वेद में 46 बार और अथर्ववेद में 9 बार आया है। अधिकांशतः इनका निर्वाचन सभा या सेना के अर्थ में उल्लेखित हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में मरुतों का उल्लेख बार बार गण के रूप में प्रस्तुत हुआ है। चूंकि सभी मरुत इन्द्र के पुत्र थे इसलिए यहाँ गण शब्द को एक जनजातीय इकाई के अर्थ में प्रयुक्त किया जाना उचित होगा। गण के सदस्य समान पूर्वज की संतान हो यह पूर्णतः आवश्यक नहीं था। यह लोगों का कृत्रिम समूह समझा जा सकता था।

मरुतों के विवरण से गणों का जनजातीय स्वरूप भी स्पष्ट हुआ है। उनका वर्णन रुद्र के उन्चास पुत्रों या नौ–नौ के समूहों में विभक्त तिरेसठ पुत्रों के रूप में ही हुआ। वैदिक गण में स्त्रियों की भूमिका पूर्णतः अस्पष्ट है। जनजातीय गण सभा के रूप में भी कार्य करते थे। ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इसे देवताओं अथवा मनुष्यों की सभा कहकर पुकारा है। वैदिक साहित्य में गण के अन्तर्गत विचार विमर्श का कहीं उल्लेख नहीं मिलता व ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की संहिताओं में मरुतों के बलशाली व ओजस्वी गणों की चर्चा बार–बार सेना के अर्थ में ही बताई गयी है। गणों के रूप में प्रयाण करते हुए वीरों का भी वर्णन भी प्रस्तुत हुआ है! गण द्रुतगामी अश्वों व शस्त्रों से सज्जित होते थे तथा ऐसा प्रतीत होता है कि गण अपनी इच्छानुसार कार्य करने वाला सशस्त्र संगठन ही था। जिसका प्रत्येक सदस्य शस्त्र धारण करता था। आर. एस. शर्मा के मतानुसार **"वैदिक गण समस्त जन समुदाय का सशस्त्र संगठन था गण को नेता राजा या गणपति कहलाता था।"**

इन्द्र, मरुत और बृहस्पति को बार–बार गणपति कहकर पुकारा गया है। ऋग्वेद में एक स्थल पर गण के नेता को राजन की उपाधि प्रदान की गई थी। गणपति के चुनाव के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं है। यूनानी जन जातियों में प्रचलित प्रथाओं का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि गणपति का चुनाव ही होता था। अथर्ववेद की ऋचा से यह संकेतित होता है कि गण के लोगों में युद्ध से प्राप्त सम्पत्ति को बांट दिया जाता था। ऋग्वैदिक गण का आधार पशुपालन को बताता था। इसलिए गण किसी निश्चित भू–भाग से जुड़े न रहकर भ्रमण करते रहते थे। शतपथ ब्राह्मण व तैत्तिरीय ब्राह्मण में मरुतों को कृषक कहा गया व इस प्रकार अब गण के सदस्य खेती करने लगे थे तथा गण में मद्यपान तथा गायन का कार्यक्रम भी होता था। इन्द्र को देवसभा में

सोमपान के लिए आहूत किया गया व वृहस्पति गण के लिए गीत भी प्रस्तुत करता था, ऐसे संदर्भ वैदिक साहित्य में प्राप्त हुए। वैदिक गण में वर्गभेद कदापि नहीं था। ऐतरेय ब्राह्मण में शासन पद्धतियों का वर्गीकरण करते हुए स्वाराज्य तथा वैराज्य का उल्लेख किया गया है जिनका तात्पर्य गणतन्त्रीय संगठनों में से है। उत्तर कुरु और उत्तर मद्र हेतु वैराज्य शासन प्रणाली का उल्लेख भी मिलता है तथा ये गण राज्य परवर्ती काल में राजतन्त्र की आंधी मे पूर्णतः बह गये। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक गण आधुनिक गणराज्यों से पूर्णतः भिन्न थे। किन्तु परवर्तीकालीन गणराज्यों को प्रेरणा गणों ने ही प्रदान की थी।

● वैदिक कालीन सैन्य, कर व न्याय व्यवस्था

वैदिक कालीन व्यवस्था को निम्न तथ्यों द्वारा समझा जा सकता है।

सैन्य व्यवस्था

वैदिक काल के प्रारम्भ से ही आर्य–अनायों का संघर्ष चला आ रहा था। आर्यजन में बलिष्ठ लोग सैनिक का कार्य करते व सेनानी सेना का मुख्य नेता होता था। राजा स्वयं युद्ध स्थल पर जाकर सेना का नेतृत्व करता व सेना में क्षत्रियों का वर्चस्व अधिक माना गया। ग्रामणी ग्राम का मुख्य अधिकारी होने के साथ–साथ सैनिक कार्य भी कुशलतापूर्वक करता था। शक्तिशाली राजा दिग्विजय पर निकला करते थे। आर. के. मुकर्जी का मत है कि ऋग्वैदिक काल में युद्ध आत्मरक्षा, विजय व पड़ोसी राज्यों का धन लूटने के लिए लड़े गए थे। सेना में पैदल, रथी व मुष्टा–मुष्टी युद्ध करने वालों का उल्लेख उत्तर वैदिक साहित्य में विस्तारपूर्वक मिलता हैं। सैनिक साज सामान का उल्लेख दाशराज्ञ युद्ध में भी प्राप्त होता है। सैनिक धनुष–बाण, कवच, हाथ के दस्तानों, टोप, झिलम, यान, सूक्ति (भाला), बल्लम अशनि (गोले फेंकने का यंत्र) आदि शस्त्रों का प्रयोग युद्धों में किया करते थे। रथ में दो, तीन चार घोड़े भी जोते जाते थे। युद्ध में अन्य साज सामान में ध्वज, दृन्दभि व युद्धघोष का उल्लेख भी देखने को मिला है।

कर व्यवस्था

वैदिक साहित्य में हमें भागधुक का उल्लेख कई स्थानों पर प्राप्त होता है। उसकी तुलना कौटिल्य अर्थशास्त्र के समाहर्ता से भी की गयी थी। जिसका कार्य कर इकट्ठा करना होता था। ऋग्वेद के 10वें मण्डल में राजा को कर प्राप्त करने वाला एक मात्र अधिकारी बताया गया था। राजा को कर या बलि प्रजा की रक्षा करने के बदले मिलने वाला उपहार मात्र बताया गया था। अथर्ववेद में कहा गया है **"राजा विष खा सकता है अर्थात् प्रजा पर भारी कर लगा सकता है।"** तैत्तिरीय संहिता के अनुसार भूमि पर प्रजा का ही अधिकार था। भूमिकर राज्य की आय का प्रमुख साधन माना गया था। उत्तरवैदिक काल में लगभग छः अधिकारियों का उल्लेख मिलता है जो राज्य में कर संग्रह करते थे।

न्याय प्रक्रिया

वैदिक साहित्य में अदालतों व न्यायालयों का उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता। राजा प्रधान न्यायाधीन तथा दीवानी एवं फौजदारी मामलों का निर्णय करता था। इसका उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है। यद्यपि समाज में होने वाले अपराधों की जानकारी अवश्य वैदिक साहित्य से मिलती है। वैदिकात्तर काल में राजा प्रधान न्यायाधीश होता था इसलिए अनुमान है कि वैदिक काल में भी राजा इस पद को सुशोभित करता रहा होगा। उत्तर वैदिक साहित्य में मध्यमसी शब्द प्राय कई स्थान पर देखने को मिलता है जिसका तात्पर्य मध्यस्ता से माना गया है। पुरूषमेध में समाचार का सम्बन्ध धर्म व विधि नियमों से है। सम्भवतः प्रश्निन एवं अभिप्रश्निन का तात्पर्य वादी–प्रतिवादी से समझा गया हो। शुल्क यजुर्वेद में कहा गया है कि सभा में लोग किये हुए अपराधों के लिये पूर्णतः भाव–विभोर होकर

पश्चात्ताप करते थे। इससे स्पष्ट है कि वैदिककाल में सभा न्याय प्रदान करने का कार्य भी कुशलतापूर्वक करती थी।

☛ विशेष

ग्रामों का प्रशासन

- वैदिक साहित्य में ग्रामों का उल्लेख मिलता है। वैदिक मन्त्रों में ग्रामों की समृ) के लिए बार–बार प्रार्थना की गई है। वैदिक ग्राम छोटे–छोटे होते थे, इसलिए समाज में उनका विशेष महत्व था। वैदिक काल में ग्राम में अधिकारी को ग्रामणी कहते थे। ग्रामों ने वैदिक काल में स्वायत्तता का उपभोग किया। बाद में साम्राज्य स्थापना के कारण गांवों की स्वायत्तता बाधित हुई।

● छात्र क्रियाकलाप

1. वैदिक साहित्य में वर्णित राजनीति के स्त्रोतों पर चर्चा कीजिए।

2. वैदिक कालीन राजा के राज्याभिषेक के चरणों पर प्रकाश डालिए।

3. वैदिक कालीन मंत्रिमण्डल सम्बन्धी विचार प्रस्तुत कीजिए।

● सारांश

- भारत में प्रशासन तन्त्र के उपलब्ध होने के प्रमाण सैन्धव सभ्यता से ही प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य से हमें राज्य की उत्पत्ति व राजपद की आवश्यकता के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी भी प्राप्त होती है।
- वैदिक काल में आर्यों ने स्थायी रूप से बसना प्रारम्भ कर दिया जिससे जनों, विशों व राज्यों का जन्म हुआ। आर्यों ने प्रारम्भ में अपनी सम्पत्ति व पशुधन की सुरक्षा हेतु योग्य व्यक्ति को राजा चुना गया था। बाद में उसे कर ग्रहण करने का अधिकार भी प्रदन किया किन्तु राज्य की सम्पन्नता हेतु कार्य करना उसका प्रमुख कर्त्तव्य था।
- धीरे–धीरे राजा का सहयोग करने हेतु सभा, समिति और विदथ जैसी संस्थाओं ने जन्म लिया था। राजा को शासन कार्यों में रत्नियों से भी सहयोग मिल जाया करता था तथा धीरे–धीरे राजपद वंशानुगत होने लगा।

- उत्तर वैदिक काल तक तो भारत में कई प्रकार के राज्य स्थापित हो गये जैसे अधिराज्य, वैराज्य, साम्राज्य और गण राज्य आदि प्रमुख थे।
- ब्राह्मण ग्रन्थों से संकेतित है कि प्रारम्भ में राज्याभिषेक साधारण विधि से किया जाता था जो उत्तर वैदिक काल में विराट् स्तर पर सम्पन्न भी होने लगा था।
- राजा के पद के गौरव को प्रदर्शित करने हेतु कई प्रकार के हथकण्डे भी अपनाए जाने लगे थे।
- सम्पूर्ण वैदिक काल में राजा अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के अलावा भी ब्राह्मणों व पुरोहितों के प्रभाव में ही लिप्त था। यद्यपि दोनों का उद्देश्य राज्य व प्रजा का कल्याण ही था।

● अभ्यास प्रश्न

1. वैदिक काल में राज्य की उत्पत्ति व उसके क्रियाकलापों पर प्रकाश डालिये।
2. वैदिक काल की राजनीतिक संस्थाओं–सभा, समिति व विदथ का विवेचन कीजिए।
3. वैदिक काल में राज्याभिषेक विधि की चर्चा कीजिए।
4. वैदि क काल में राजा और उसके सम्बन्ध में ज्ञात धार्मिक–राजनीतिक विचारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. गायत्री मंत्र का उल्लेख वेद में हैं।

   (अ) ऋग्वेद (ब) सामवेद

   (स) यजुर्वेद (द) अथर्ववेद

2. वैदिक काल में राजा जनता से जो कर वसूल करता था, वह कहलाया:

   (अ) लगान (ब) जर्जिया

   (स) बलि (द) कर

3. उपनिषदों की संख्या है।

   (अ) 4 (ब) 8

   (स) 108 (द) 12

4. वेदांगों की संख्या कितनी है?

   (अ) 4 (ब) 6

   (स) 108 (द) 92

5. वैदिक आर्यों का मुख्य भोजन था?

   (अ) जौ व चावल (ब) दुध व इसके उत्पापक

   (स) सब्जी व फल (द) चावल और दाल

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (स) 3. (स) 4. (ब) 5. (ब)

❑❑❑

4

महाभारत
(MAHABHARAT)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- महाभारत के संबंध में पश्चिमी इतिहासकारों की धारणा
- महाभारत के राजनीतिक आदर्श
- महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ
- राज्य का आवयविक स्वरूप
- राजा के कर्त्तव्य
- उत्तराधिकार के नियम व राज्याभिषेक
- धर्म व राजनीति का सम्बन्ध
- मन्त्रि–परिषद
- जन–संसद
- दण्ड की महत्ता
- न्याय–व्यवस्था
- आर्थिक व्यवस्था
- सैन्य व्यवस्था
- षडगुण्य नीति एवं उसका व्यावहारिक पक्ष
- गण एवं संघ राज्य
- सारांश
- अभ्यास प्रश्न
- बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगे:

➡ महाभारत से ज्ञात राजा एवं राज्य उत्पत्ति के सिद्धान्त को।

➡ राजा के अधिकार एवं कर्तव्य को।

➡ राज्य के प्रमुख अंग–न्याय एवं सैनिक व्यवस्था को।

➡ महाभारत में व्याप्त षड्गुण्य नीति को।

➡ प्राचीन गणराज्य, पुर व जनपद को।

● प्रस्तावना

महाकाव्य भारतीय संस्कृत साहित्य के प्राण माने गए हैं। इनके अन्तर्गत वेद व्यास द्वारा सृजित महाभारत का नाम प्रमुखता से गिनाया जा सकता है।

महाभारत का विषय कौरव–पांण्डव संघर्ष है। जो आर्य–अनार्य के बीच न होकर कौरवों–पाण्डवों सहित सम्पूर्ण भारत के आर्यजनों के मध्य संपन्न हुआ था। महाभारत की अभिनेत्री द्रोपदी थी जिसे लेकर महाभारत का महायुद्ध लड़ा गया था। कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़ा गया यह युद्ध इतना भयानक था कि इससे प्रभावित सम्पूर्ण भारत के राजा कौरवों या पाण्डवों में से किसी एक का पक्ष लेकर आपस में द्वन्द्व कर बैठे थे।

महाभारत युद्ध में पाण्डवों के पक्ष में मध्यदेश के पांचाल काशी, मगध, मत्स्य, चेदि तथा मथुरा के शासकों व कौरवों की तरफ से उत्तर पूर्व में प्राग्ज्योतिष, चीन, किरात, उत्तर–पश्चिम में कम्बोज, यवन, शंक, मद्र, केकय, सिन्ध–सोवीर, पश्चिम में भोज, दक्षिण में दक्षिणा पथ के राजा, दक्षिण पूर्व में आन्ध्र और मध्य देश में महिष्मती और अवन्ति के राजाओं ने बढ चढकर भाग लिया था।महाभारत किसी एक समय की रचना नहीं कही जा सकती है। सी.वी. वैद्य ने इसका रचनाकाल 3100 ई.पू. से 2000 ई.पू. के मध्य बताया है। आर.के. मुकर्जी ने इसे 200 ई. पूर्व. की रचना होना स्वीकार किया है। महाभारत का अन्तिम रूप से सम्पादन गुप्तकाल में हुआ माना गया। 442 ई. के एक गुप्तकालीन अभिलेख में एक लाख श्लोक वाले महाभारत का उल्लेख भी मिलता है। जायसवाल के मतानुसार महाभारत के रचनाकाल की अन्तिम सीमा 500 ई. ही बतायी गयी।

महाभारत को शतसाहसी कहकर भी पुकारा गया। मैक्डोनल का मत है कि महाभारत में मूलतः 20,000 श्लोक थे तथा इसका शत–साहसी स्वरूप आज भी भलि–भांति उपलब्ध नहीं है। महाभारत के अनुसार उसकी श्लोक संख्या 96,244 है।

महाभारत के 18 पर्व

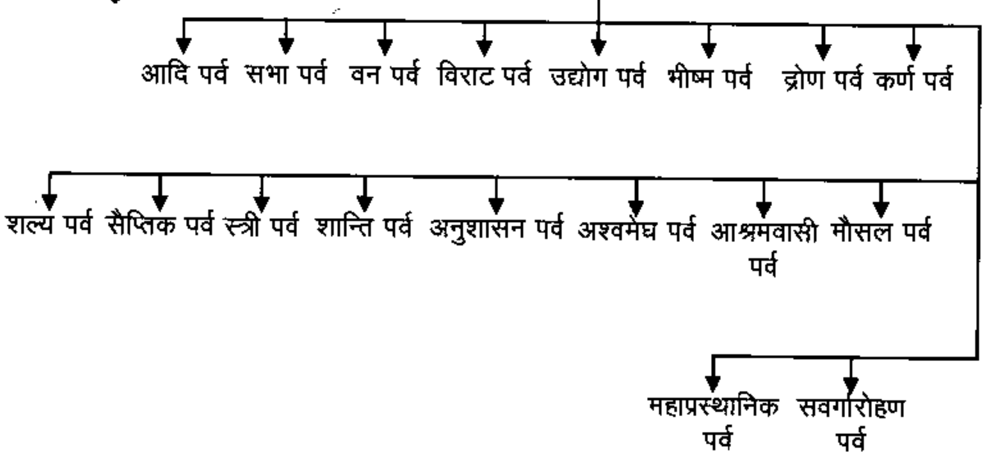

महाभारत में 18 पर्व हैं। जिनके नाम निम्नवत हैं–**आदि पर्व, सभा पर्व, वन पर्व, विराट पर्व, उद्योग पर्व, भीष्म पर्व, द्रोण पर्व, कर्ण पर्व, शल्य पर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व, शान्ति पर्व, अनुशासन पर्व, अश्वमेघ पर्व, आश्रमवासी पर्व, मौसल पर्व, महा प्रस्थानिक पर्व** और **सवर्गारोहण पर्व**। महाभारत में इतने विषय मिलते हैं कि इसका मुख्य विषय कौरव–पाण्डवों की कथा तो गौण प्रतीत होती है तथापि यह ग्रन्थ भारतीय जीवन के लौकिक एवं धार्मिक ज्ञान का विश्वकोष ही प्रतीत होता है। इसे अपने युग के धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक चिन्तन का अनुपम संग्रह माना जा सकता है।

● महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी इतिहासकारों की धारणा

पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता रही है कि प्राचीन भारत के लोग राजनीति व राष्ट्र–धर्म से पूर्णतः अपरिचित थे। परन्तु महाभारत के शान्ति पर्व के राजधर्म विषय वितरण से संकेतित होता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र से पूर्णतया परिचित थे। महाभारत के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि भारत में कई राजनीतिक परम्पराएं बहुत पहले से ही लोकप्रिय थी जिन्हें बाद में महाकाव्यों में केवल लिपिबद्ध किया गया था।

● महाभारत के राजनीतिक आदर्श

महाभारत के राजनीतिक विचारों व संस्थाओं के अध्ययन से पूर्व शासकों के राजनीतिक आदर्शों का अध्ययन करना परम आवश्यक हो जाता है। विवेच्य आदर्शों का उल्लेख महाभारत में पूर्णतः प्रसंगवश किया गया है जो इस निम्नवत है।

1. राजा शुभ कार्य कर प्रजा को प्रेरणा प्रदान करे जिससे समस्त जनता की जीवन–यात्रा भलीप्रकार चल सके।

2. राजा अराजकता दूर करने हेतु दण्ड का निरन्तर प्रयोग करे।

3. राजा धर्म की रक्षा करे व उसे अपने निर्णय धर्मशास्त्रों को आधार मानकर ही करने चाहिए।

4. राजा सत्यनिष्ठ, ज्ञानवान, क्षमाशील, बुद्धिमान, प्रजा–वत्सल, जितेन्दिय व मधुरभाषी होना चाहिए।

5. राजा सदैव साम्राज्य–विस्तार हेतु प्रयत्नशील रहे।

6. जन–कल्याण व दरिद्र नारायण सेवा राजा का मुख्य कर्तव्य है।

7. शासक राजनीति का ज्ञाता होना चाहिए व उसे जन–मत की ओर विशेष ध्यान देना भी चाहिए।

8. विदेशी आक्रमणों व आन्तरिक अशान्ति से राज्य की रक्षा करना निरन्तर करनी चाहिए।

9. आदर्श राज्य की स्थापना करना राजा का परम कर्त्तव्य होना चाहिए।

● महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं

राजधर्म एवं दण्डनीति

महाभारत के शान्ति पर्व में राजधर्म की व्याख्या विस्तृतपूर्वक की गई हैं इस पर्व में राजशास्त्र के प्रणेता बृहस्पति, भारद्वाज, गौरशिरा, विशालाक्ष, मनु, प्राचेतस आदि का उल्लेख भी किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत की रचना होने तक राजधर्म का शास्त्र पूर्णतया व्यवस्थित हो चुका था। भीष्म पितामह द्वारा युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश देते हुए कहा था कि **"यदि दण्डनीति नष्ट हो जाए तो तीनों वेद रसातल में चले जायेंगे, तीनों वेदों के नष्ट होने से समाज में प्रचलित सारे धर्म नष्ट हो जायेंगे।"** महाभारत में कहा गया है कि **"इस जगत का नियन्त्रण दण्ड के ही अधीन है। इसलिए यह ग्रन्थ दण्डनीति शास्त्र के नाम से जगत में प्रसिद्ध है।"** पुरातन राजधर्म (जिसे क्षात्र धर्म भी कहा गया है) के लुप्त होने पर समाज में प्रचलित सारे धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा कहा गया है कि **"सब कर्तव्यों में राजधर्म श्रेष्ठ है। वह सम्पूर्ण संसार का त्राण कर्ता है उससे न केवल धर्म और काम किन्तु मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। जैसे घोड़े के लिए लगाम और हाथी के लिए अंकुश नियन्त्रण**

का काम करते हैं, उसी प्रकार राजा के लिए राजधर्म है। यदि राजा इस धर्म के पालन में भूल करता है तो संसार के स्थायित्व में अन्तर आ जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय से अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार स्वर्ग प्राप्ति में जो अड़चनें हैं वे राजधर्म का पालन करने से दूर हो जाती है। राजधर्म का पालन करने पर अन्य धर्मों, जिनमें क्षात्रधर्म भी सम्मिलित है का समावेश हो जाता है। इस प्रकार राजधर्म सब धर्मों का शिरोमणि है।" राजधर्म में सब प्रकार का उपभोग, सब धार्मिक कृत्य, सभी विद्याएं व अन्य सभी कर्तव्य सम्मिलित किए गए थे। भीष्म ने अपने उपदेश में राजनीति के साथ सदैव धर्म को जोड़कर भी प्रस्तुत किया था। संक्षेप में यदि कहा जाए तो राज्यशास्त्र और दण्डनीति को वेदव्यास ने चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का साधन माना।

राजा की आवश्यकता

महाभारत के अनुसार जिस देश में राजा नहीं होता है, वहाँ सदगुण का वास कदापि नहीं होता व उस राज्य को डाकू घेर लेते हैं। भीष्म पितामह द्वारा कहा गया है कि **"राजा रहित देश में अग्नि द्वारा देवताओं को अग्नि होत्र नहीं पहुंचता और किसी की समृद्धि नहीं होती। बलवान व्यक्ति कमजोरों को लूटते हैं और स्वतन्त्र व्यक्ति दास बनाये जाते हैं तथा बलपूर्वक स्त्रियों का अपहरण होता है।"** महाभारत में शुक्राचार्य का राजनीति पर जो विवेचन है उसमें कहा गया है कि मनुष्य पहले राजा को प्राप्त करे तथा फिर स्त्री एवं सम्पत्ति को, क्योंकि इस संबंध में सहज ही यह प्रश्न सामने आता है कि यदि रक्षा करने के लिए राजा नहीं होगा तो स्त्री और सम्पत्ति की रक्षा ही कौन करेगा। शान्ति पर्व के ही 68वें खण्ड में यह भी बतलाया गया है कि राजा वायुमानस ने किस प्रकार बृहस्पति आचार्य से अत्यन्त रोचक प्रश्न किया कि प्राणियों की वृद्धि व उनका ह्रास किसके द्वारा होता है तथा इसके उत्तर में राजा के अभाव में जो संकट आते हैं व उसकी विद्यमानता में जो सुख प्राप्त होते हैं, दोनों का उल्लेख ओजस्वी भाषा में इसी के अंतर्गत किया गया है। महाभारत के अनुसार केवल राजा के डर से लोग एक दूसरे का भक्षण नहीं करते वरन् जैसे सूर्य व चन्द्रमा के लोप हो जाने पर घोर अन्धकार छा जाता है तथा उसके उथले जल में मछलियां व सुरक्षित स्थान में पक्षी आपस में लड़कर मर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार बिना राजा के लोग भी नष्ट हो जाते हैं। इसके विपरीत जब राजा द्वारा राज्य की रक्षा होती है तब लोग घरों के द्वार बिना बन्द किये भी अन्दर से सोने में संकोचन नहीं करते हैं। आभूषणों से सुसज्जित स्त्रियां पुरुषों की सहायता बिना निःसंकोच होकर मार्गों पर चलन करती हैं। एक दूसरे को हानि पहुंचाये बिना लोग धर्म का पूर्णतः आचरण करते हैं। कृषि का पूर्णतः विस्तार होता है। इस प्रकार सुख समृद्धि, समाज, की संस्थाएं नीति व धर्म के नियम, विज्ञान, कलाएं–ये सभी राजा के पद पर ही निर्भर हैं। इसलिए समाज को व्यवस्थित रूप से संचालित करने हेतु राजा का होना अत्यन्त आवश्यक है।

राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

महाभारत के अनुसार राजा का पद दिव्य माना गया है। शान्ति पर्व के अनुसार राजा को सनातन देव कहकर पुकारा गया है। जो नर रूप धारण कर पृथ्वी पर आता है। इसलिए राजा को मनुष्य के रूप में देख कर उसका निरादर कदापि नहीं करना चाहिए। भीष्म के अनुसार राजा में पंच–देवमय निवास करते हैं और वह पंच–देवमय कहलाता हैं। ये पांच देव अग्नि, आदित्य, मृत्यु, कुबेर और यम बताए गए है। यह पंच देव राजा समय–समय पर इन पांच देवों का पृथक्–पृथक् रूप धारण करने में सक्षम होता है। पापियों का नाश करने के लिए वह अग्निदेव का रूप, चरों द्वारा अपने अधीन प्रजा के दैनिक आचरण का ज्ञान प्राप्त करने हेतु राजा आदित्य रूप तथा जब वह क्रुद्ध होकर सैकड़ों अशुचि मनुष्यों, सामन्तों, अमात्यों आदि को दण्ड देता है तो वह अन्तक देव का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जब राजा

अधामिकों को तीक्ष्ण दण्ड देता है व धार्मिकों पर अनुग्रह करता है तो वह यम रूप को धारण करता है। जब वह उपकारियों पर धन की वर्षा करता है व अपकारियों के धन का अपहरण करता है तो किसी की भी लक्ष्मी छीन लेता है और किसी को भी लक्ष्मी दे सकता है उस समय राजा कुबेर देव का रूप धारण करता है। भीष्म ने अपने उपदेश में कहा कि जो राजा धर्म–परायण है वह मनुष्यों का देव व अधिपति होता है तथा जिन राजाओं में चारित्रिक विकास नहीं होता वे कदापि देव नहीं माने जा सकते। उन्होंने राजा पृथु को देवी राजा माना क्योंकि उसमें स्वयं विष्णु ने प्रवेश किया था। अर्थात् राजा पृथु के चरित्र का विकास विष्णु चरित्र से माना गया। इसलिए वह अन्य राजाओं के लिए सम्मान का पात्र सिद्ध हुआ था। महाभारत में भीष्म के राजा के देवत्व सम्बन्धी विचार भारतीय राजशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। वेदव्यास राजा के देवत्व का तभी तक समर्थन करते हैं जब तक उसका चरित्र दिव्य प्रस्तुत होता है। उसकी आज्ञा तभी मान्य होगी जब तक वे विधि–सम्मत या धर्मानुसार सिद्ध हो। इस प्रकार राजा स्वयं राजधर्म की सीमा में पूर्णतः आबद्ध है। वह उस सीमा के अतिक्रमण का अधिकारी कदापि नहीं है।

राज्य उत्पत्ति हेतु सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त

महाकाव्यों में राज्य उत्पत्ति के समाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त भी वर्णित है। महाभारत के शान्ति पर्व से यह ज्ञात होता है कि यह अनुबन्ध राजा और जनता के प्रतिनिधियों के मध्य हुआ। महाभारत में इस अनुबन्ध का दो स्थलों पर विस्तृत उल्लेख मिलता है। प्रथम विवरण के अनुसार प्रारम्भ में सतयुग माना गया था। समस्त प्रजा धर्म द्वारा एक दूसरे की पूर्णतः रक्षा करती थी। उस समय न कोई राज था, न राजा, न दण्ड व न दण्ड देने वाला तथा वेद व्यास के अनुसार सतयुग का मानव कुछ समय बाद मोहग्रस्त भी हो गया था और अपना कर्तव्य भूलकर धर्महीन हो गया था। मनुष्य पर लोभ और काम का प्रभाव बढ़ जाने पर वेदों का स्वाध्याय स्वतः ही समाप्त हो गया था व यज्ञादि कर्मो का पूर्णतः नाश हो गया। जिससे देवता भयभीत हो गये और ब्रह्मा की शरण में जा पहुंचे। ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि से एक लाख श्लोकों के दण्डनीति प्रधान धर्म ग्रन्थ की रचना कर यह आदेश दिया कि वे इनके अनुसार अपना आचरण करें। अब देवता सोचने लगे कि इन नियमों को मनुष्य समाज पर लागू करवाने हेतु एक दण्डधारी का होना भी परम आवश्यक है। यह सोचकर वे सब विष्णु के पास गये और उनसे कहा कि वे ऐसे पुरुष का उल्लेख करें जो राजा पद पाने के योग्य हो। तब विष्णु ने उन्हें ऐसे पुरुष को लक्षित किया जिसे उन्होंने अपना राजा बना लिया। महाभारत के अनुसार प्रजा ने पृथु को राज पद देने से पूर्व उससे समझौता भी किया। इस अनुबन्ध के अनुसार भावी राजा ने प्रतिज्ञा की कि वह प्रजा की हरसंभव रक्षा करेगा और दण्डनीति में वर्णित नियमों का पालन पूर्णतः करेगा। स्वयं कभी इन नियमों का उल्लंघन कर स्वेच्छाधारी कदापि न होगा। दूसरी और प्रजा के प्रतिनिधियों ने भी प्रतिज्ञा की कि वे इस राजा के शासन में रहकर उसकी तन मन व धन से सदैव सेवा करते रहेंगे।

शांति पर्व में समाज अनुबन्ध वाद का एक दूसरा उदाहरण भी दृष्टिगोचर होता है। जिसके अनुसार उस प्राकृत युग में सुख शांति व धर्म पालन की स्थिति नहीं बतायी गयी थी। इस युग में मनुष्यों का कोई स्वामी नहीं था व सबल मनुष्य निर्बलों को पूर्णतः नष्ट कर रहे थे। इस युग में मत्स्य न्याय पूर्णतः प्रचलित था। जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। अतः इस कठिनाई से मुक्त होने के लिए सभी लोगों ने एकत्र होकर सदाचार के नियम भलीभांति बनाये। जिनसे कुछ समय तो काम चलता रहा परन्तु कलान्तर में पुनः अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। इसलिए सब लोग ब्रह्मा जी के पास गये और कहा कि राजा बिना हम सब लोग कष्ट ही पा रहे हैं। आप हमें कोई ऐसा राजा दीजिए जो शासन चलाने में पूर्णतः समर्थ हो। ब्रह्मा ने प्रार्थना स्वीकार कर मनु को राजा बनने की आज्ञा भी प्रदान की मनु ने शासन कार्य

करने हेतु प्रजा से पूर्णतः समझौता किया। इस समझौते के अनुसार प्रजा राजा का कोष वृद्धि हेतु धन, पशु 50 प्रतिशत स्वर्ण व अनाज की उपज का 10वां भाग कर रूप में राजा को प्रदान कर देगी। इस पर मनु ने कहा कि वह भी कुबेर की तरह अपनी प्रजा की रक्षा भी करेगा। समझौते से कहा गया कि प्रजा जो धर्म करेगी उसका चौथा भाग राजा को सदैव मिलता रहेगा। इस प्रकार इस अनुबन्ध में प्रजा ने राजा को अधिकार व शक्तियां सशर्त सौंपी थी। शान्ति पर्व में स्पष्ट कहा गया है वेद व्यास राजा की निरंकुशता का कदापि समर्थन नहीं करते। जनता राजा के आदेश का पालन तभी तक करेगी जब तक वह पूर्णतः धर्मानुसार आचरण करेगा। प्रजा का रंजन व रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्तव्य बतलाया गया है जिसका पालन न करने वाला राजा उसी प्रकार त्याज्य होगा जिस प्रकार समुद्र की यात्रा में टूटी हुई नौका, उपदेश न देने वाला आचार्य व कटु वचन बोलने वाली स्त्री होती है।

राजा के चुनाव का संकेत

महाभारत से ज्ञात होता है कि जब प्रतीप ने अपने पुत्र देवापि के अभिषेक की तैयारी की तो नगर व ग्राम की प्रजा, ब्राह्मणों और वृद्धों ने उसे ऐसा करने से रोका जिससे प्रतीप अत्यंत दुःखी हो गया था। प्रजा का आरोप था कि देवपि में सभी गुण हैं किन्तु चर्म रोग के कारण वह राज पद के पूर्णतः अयोग्य है। इसी प्रकार जब ययाति अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु को सिंहासन पर अभिषिक्त करना चाहता था तब ज्येष्ठ पुत्र को अपने अधिकार से वंचित किये जाने पर प्रजा ने आपत्ति प्रस्तुत की। इस पर ययाति ने अपने निश्चय के कारण बतलाए तब प्रजा ने पुरु को राजा बनने का अवसर प्रदान किया था। इन उदाहरणों से पूर्णतः स्पष्ट है कि महाभारण काल में राजा का चुनाव करने की प्रथा पूर्णः लुप्त नहीं हुई थी।

● राज्य का आवयविक स्वरूप

शांति पर्व में राज्य की उत्पत्ति व उसके स्वरूप पर भी विचार किया गया था। सम्भवतः भीष्म राज्य के अवयविक स्वरूप में पूर्णतः आस्था रखते थे। भीष्म के अनुसार **"राज्य का स्वरूप सप्तांग अथवा सप्तात्मक है।"** उनके अनुसार सप्तात्मक राज्य के सात अंग आत्मा (राजा) अमात्य, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर बताये गये हैं। भीष्म ने राज्य के अवयवों का संकेत मात्र प्रस्तुत किया है। इसलिए यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि राज्य के आवयविक सिद्धांत के सम्बन्ध में भीष्म पूर्णतः क्या अवधारणा रखते थे। किन्तु यहां इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाभारत के राजनीतिज्ञ राज्य के आवयविक स्वरूप में वह पूर्णतः आस्था अवश्य रखते थे।

☛ **विशेष**

साम्राज्य की अवधारणा

- महाभारत से पूर्व ही भारत में साम्राज्य इकाई का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तृत रूप में मिलता है। महाभारत के समय साम्राज्य ऐसे राज्यों का समूह होता था जो किसी बड़े राजा के पूर्णतः अधीन हो। सभा पर्व से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने के लिए श्रीकृष्ण से सलाह ली थी। क्योंकि सम्राट बनने हेतु राजसूय यज्ञ आवश्यक माना जाता था। राजसूय यज्ञ करने हेतु राजा विजयें करना प्रारम्भ करता तो कई राजा उसे सम्राट रूप में बिना लड़े ही मान्यता दे दिया करते थे। सी.वी.वैद्य ने आशंका व्यक्त की है कि महाभारत काल में साम्राज्य की अवधारणा भारतवासियों ने ईरानियों से ही ग्रहण की थी। किन्तु यह विचार कदापि स्वीकार्य नहीं है। महाभारत में उल्लेख आता है कि क्षत्रिय राजाओं ने मिलकर यह निश्चय किया था कि जो राजा सबको जीत लेगा व उसी को अन्य राजा सार्वभोम या सम्राट स्वीकार करेंगे। सभापर्व के अनुसार राजाओं ने आत्म–रक्षा हेतु साम्राज्य निर्माण की प्रथा प्रारम्भ की थी। उस समय राजा जरासंध सबसे बलवान को माना गया

था। पृथ्वी के सभी राजा चाहे वे ऐल राजा हों या ऐक्ष्वाक उसको कर दिया करते थे। वे स्वयं को उसके अधीन स्वीकार करते थे। जरासंध ने सब क्षत्रिय राजाओं को पदाक्रान्त कर दिया था। चेदि राजा शिशुपाल उसका सेनाध्यक्ष था व सब क्षत्रियों ने उसे अपना सार्वभौम स्वीकार किया था। इस उदाहरण से पूर्णतः स्पष्ट है कि उन दिनों साम्राज्य में कई स्वतंत्र राज्य सम्मिलित होते थे।

● राजा के कर्तव्य

महाभारत में राजा के कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत के अनुसार राज्य एक महान भार था। जिसे सम्भालने हेतु कुशल वाहक परम आवश्यक था व इस वाहक (शासक) में शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक गुण होने भी परमावश्यक थे। क्योंकि राजा का चरित्र प्रजा के लिए आदर्श होता था। भीष्म द्वारा शान्ति पर्व में राजा के कर्तव्यों को लोकरंजन कहकर पुकारा गया था। उनके अनुसार **"राजा को अपने हितकारी कार्यों का त्याग कर लोकरंजन के कार्यों में निरत रहना चाहिए राजा का प्रथम कर्तव्य आत्म–विजय करना है।"** महाभारत में दर्शाया गया है कि वर्णाश्रम व्यवस्था ऋषियों द्वारा स्थापित की गयी थी। इस व्यवस्था का आचरण करने के लिए प्रेरित करना राजा का परम कर्तव्य बताया गया था। भीष्म ने प्रजा में धर्मसंकरता तथा वर्णसंकरता को रोकना राजा का परमधर्म बताया गया है। शान्ति पर्व में यह भी कहा गया है कि राज्य के प्राणिमात्र की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है। प्रजा को मात्र उसकी रक्षा करके ही प्रसन्न किया जा सकता है। भीष्म ने अपने उपदेश में कहा है कि **"प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ राजा उसी प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार काठ का हाथी, चमड़े का मृग, ऊसर क्षेत्र, वर्षा न करने वाला बादल और वेदविहीन ब्राह्मण।"**

महाभारत में राजा के निष्पक्ष व व्यावहारिक होने पर भी जोर दिया गया है। शांति पर्व में कहा गया है कि राजा अभियोगों को सुनने व उन पर निर्णय देने के लिए महान अनुभवी और विद्वान पुरुष नियुक्त करता था और इस प्रकार उसने व्यवहार स्थापन कार्य किए जाने थे। अपने पुत्रों–पौत्रों को भी यदि वे दोषी पाते थे तो उन्हें भी दण्ड दिया जाता था। राजधर्म के अनुसार प्रजा पालन करने वाले राजा के समक्ष माता, पिता, भ्राता, भार्या व पुरोहित कोई अदण्ड्य नहीं होता था।

शांति पर्व में राजा के कर्तव्यों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह प्रशासन कार्य चलाने हेतु योग्य कर्मचारी भी नियुक्त करते थे। अर्थात शरभ के पद पर शरभ, सिंह के पद पर सिंह, बाघ के पद पर बाघ और तेन्दुआ के पद पर तेन्दुआ की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार जो जिस कार्य के योग्य हो उसको उसी कार्य के सम्पादन हेतु नियुक्त किया जाता था। जो बुद्धिहीन राजा इस नियम को तोड़ता था वह प्रजारंजन कार्य में असफल हो जाता था।

राजा का यह कर्त्तव्य है कि कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण करे अन्यथा वे उनके प्रमादी होने की आशंका बनी रहती थी। भीष्म ने कहा है कि **"जिन कर्मचारियों को अधिकार पूर्ण कार्यों पर नियुक्त किया गया है उनके कार्यों की राजा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जांच करे।"**

राजा का कर्त्तव्य है कि वह एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित करे ताकि किसी भी व्यक्ति की प्रगति अर्थ–अभाव से अवरुद्ध न हो तथा प्रत्येक नागरिक की आर्थिक स्थिति ऐसी होनी जरूरी है कि वह कम से कम अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो कर सके। भीष्म ने शान्ति पर्व में पुनः कहा है कि **"राजा को अपने राज्य में इस प्रकार व्यवस्था करना चाहिए कि जिससे अप्राप्त अर्थ का लाभ, प्राप्त अर्थ की वृद्धि और प्राप्त अर्थ की वृद्धि का विवरण सम्यक् प्रकार से पात्रों में किया जा सके।"** महाभारत में उन राज्यों की आलोचना भी की गई है जहां लोगों को भिक्षा–वृत्ति धारण करने को मजबूर किया जाता था।

महाभारत में यह भी कहा गया है कि "**सार्वजनिक उत्सव की व्यवस्था करना, जीर्ण प्राचीण भवनों व स्मारकों की मरम्मत, देवमन्दिर निर्माण, जलाशय, कूप–जीर्णो)ार एवं नव–निर्माण करवाना राजा का कर्तव्य है।**" शान्ति पर्व में राजा से यह अपेक्षा की गई है कि वह मादक द्रव्यों का विक्रय व वेश्यावृत्ति के निरोध का पूर्णतः प्रयास करे। राजा से यह भी कहा गया है कि वह मद्य, मांस, वेश्या आदि व्यवसायों पर भली भांति नियन्त्रण रखने की व्यवस्था भी करे। उनका मत है कि ये व्यवसाय भद्र पुरुषों में पूर्णतः क्लेश उत्पन्न कर देते हैं।

● उत्तराधिकार के नियम व राज्याभिषेक का उल्लेख

किसी भी व्यक्ति के राजा बनने पर उसका अभिषेक किया जाना परम आवश्यक था। महाभारत में एक स्थल पर युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म ने कहा है कि "**प्रजा का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह राजा का अभिषेक करे।**" वह आगे यह भी कहता है कि "**इस संसार में राजा न होने से जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है उस प्रकार शक्तिशाली व्यक्ति कमजोरों का भक्षण कर लेते हैं।**" भारत में राजा के पद पर आसीन व्यक्ति का अभिषेक संस्कार करने की परम्परा का वैदिक काल में ही शुभारंभ हो गया था जिससे नये शासक को प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण वैधानिक रूप से प्राप्त हो जाता था।

महाभारत के अनुसार बड़ा पुत्र ही राजपद का अधिकारी माना जाता था। उस समय पुत्रहीन राजा के भाई को राजपद सौंपा जाता था। राज्यारोहण समारोह भव्यतापूर्वक सम्पन्न किया जाता था। ये धार्मिक कृत्य था जिसे पुरोहित वैदिक विधि से पूर्णतः सम्पन्न करवाता था। शांति पर्व के अनुसार राजा राज्यारोहण के समय वेदशास्त्रों के आदेश–पालन की शपथ भी लेता था। विभिन्न स्थानीय निकाय, सामाजिक नियम, धार्मिक दबाव, ज्ञानवान लोग राजा को स्वयं स्वेच्छाचारी बनने से रोकते थे। गलत कार्य करने वाले राजा को प्रजा पदच्युत भी कर सकती थी अथवा उसकी हत्या भी कर सकती थी।

अभिषेक के एक दिन पहले राजकुमार व उसकी पत्नी को उपवास व्रत दीक्षा प्रदान की जाती थी। वे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर नारायण की पूजा, हवन करते, अभिषेक के दिन प्रातः ब्राह्मणों को भोजन कराकर दक्षिणा दी जाती थी। नगर में पताकाएं फहरायी जाती अभिषेक के समय सभासद, व्यापारी, नागरिक, श्रमिक संघ प्रधान, सामन्त राजा, मंत्री, सैनिक व सरकारी अधिकारी राजप्रासाद पहुंच कर अपना स्थान ग्रहण कर लेते थे। पहले द्विजगण स्वस्ति–वाचन पूर्वक राजकुमार को आशीर्वाद देते, तत्पश्चात् वे यज्ञ किया करते थे। फिर उन्हें भद्रासन पर बैठाकर अभिषेक किया जाता था। राज्य के प्रमुख लोग अभिषेचन किया करते थे। फिर राजा नये वस्त्र पहन कर सिंहासन पर पत्नी सहित बैठता और पुरोहित उसके सिर पर मुकुट रखकर छत्र रखते और चंवर ढुलाया जाता। उपस्थित लोगों को पुरस्कार दिया जाता फिर राजा पुष्प–रथ पर बैठकर नगर में जुलूस के साथ भ्रमण करता था। रथ में सोने की साज–सज्जा वाले चार श्वेत अश्व जुड़े होते थे। राजकीय सवारी के राजमहल पहुंचने के साथ ही यह समारोह पूर्ण हो जाता था।

☛ विशेष

राजा के गुण–दोष

- महाभारत में राजा के 36 गुणों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। वेदव्यास लिखते हैं कि जिस राजा में क्रोध का अभाव होता है, जो दुर्व्यसनों से दूर रहता है तथा जिसका दण्ड कठोर नहीं होता, जो इन्द्रियों पर विजय पा लेता है वह हिमालय के समान प्राणियों का विश्वासपात्र बनकर उभरता है।

- महाभारत में वेदव्यास पुनः लिखते हैं कि **"राजा बुद्धिमान, त्यागी, शत्रुओं की दुर्बलता जानने में तत्पर, देखने में सुन्दर, सभी वर्गों में न्याय तथा अन्याय समझने वाला, महामनस्वी, कोमल स्वभाव से युक्त, उद्यमी, कर्मठ, आत्मप्रशंसा से दूर रहने वाला, जिसके प्रारम्भ किए हुए सभी कार्य सुन्दर रूप से समाप्त होते दिखलाई देते हैं वह समस्त राजाओं में श्रेष्ठ है।"** राजा के गुणों की चर्चा करने के बाद महाभारत में उसके अवगुणों की स्पष्ट चर्चा भी मिलती है। शान्ति पर्व में कहा गया है दर्प, अधर्म, क्रोध, अपरिचित स्त्रियों व वेश्याओं से मैथुन करने वाले राजा का शीघ्र पतन संभव है।

● धर्म व राजनीति का सम्बन्ध

महाभारत में राजनीतिक जीवन पर धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है। महाभारत के अनुसार राजा का अस्तित्व पूर्णतः धर्माचरण करने के लिए है न कि कामवासना आदि की तृप्ति के लिए। प्राणियों का जीवन धर्म पर अवलम्बित रहता है तथा धर्म राजा पर पूर्णतः अवलम्बित है। जो राजा उचित रीति से धर्म का पालन करता है, वही वास्तव में पृथ्वीपति कहलाता है। ऋषियों ने इहलोक व परलोक दोनों पर विचार कर उस महान व्यक्ति की सृष्टि की है जिसे राजा कहा गया है, ताकि वह धर्माचरण का रक्षक हो। महाभारत के अनुसार राजा धर्म का आचरण करता है तो उसका पद प्रायः देवतुल्य निश्चित ही हो जाता है किन्तु यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह नरकगामी होता है। जिस व्यक्ति द्वारा धर्म का प्रचार होता है उसे राजन् कहते हैं और जिसके द्वारा नाश होता है उसे वृशाल कहा जाता है।

☛ **विशेष**

- महाभारत में भीष्म पितामह, युधिष्ठिर से कहते हैं कि ब्राह्मणों व क्षत्रियों का आदर करने से सुख प्राप्त होता है व उसका निरादर करने से निश्चय ही नाश होता है।
- शान्ति पर्व में ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरों से वैश्यों और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति का उल्लेख भी मिलता है।
- वायु देवता कहते हैं कि पृथ्वी पर जन्म लेने वाले प्राणियों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है तथा क्षत्रियों को इसलिए उत्पन्न किया है ताकि वे दण्ड धारण कर सकें। इस प्रकार महाभारत में दो शक्तियों के सिद्धान्त की कल्पना की गई थी।
- महाभारत में कश्यप ऋषि कहते हैं कि जिस राज्य में ब्राह्मण व क्षत्रिय लड़ते हैं उसका नाश हो जाता है। ब्राह्मणों की शक्ति का स्रोत क्षत्रियों में है व क्षत्रियों की शक्ति का स्रोत ब्राह्मण हैं। अतः राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मणों को अप्रसन्न न करे क्योंकि क्रोधित होने पर वे सरलता से राजा, उसकी सेना व वाहनों को नष्ट कर सकते हैं।
- शान्ति पर्व में कहा गया है कि ब्राह्मण सब जातियों का मुखिया होता है। जैसे पति के अभाव में स्त्री देवर के आश्रय को ग्रहण करती है उसी प्रकार ब्राह्मण के पश्चात् पृथ्वी राजा को अपना स्वीकारती है।
- महाभारत के अनुसार जब किसी भी प्रकार क्षत्रियगण ब्राह्मणों से उद्दण्ड व्यवहार करे तो ब्राह्मणों को उन्हें नियन्त्रित कर लेना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मणों से ही क्षत्रिय उद्भुत हुए हैं।
- शास्त्रों ने तो यहां तक व्यवस्था कर दी कि यदि राजा दुश्चरित्र है तो ब्राह्मण उसको दण्ड भी दे सकता है।
- इस प्रकार महाभारत में ब्राह्मण व क्षत्रिय को महत्वपूर्ण मानते हुए ब्राह्मण को राजनीतिक दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया है।

● मन्त्रि–परिषद्

राज्य के कार्य को सुचारू रूप से चलाने हेतु मन्त्रिपरिषद् का होना भी आवश्यक है। महाकाव्य काल में राज्य का मूल मंत्रियों द्वारा दी गई सद्मन्त्रणा को स्वीकार किया गया। राजा के लिए आवश्यक था कि वह योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति मंत्री के पद हेतु करे। शान्ति पर्व में राजा को सलाह दी गई है कि वह अनेक विषयों के ज्ञाता, अनुभवी तथा सदाचरण में रत पुरुषों से पूर्णतः मंत्रणा करे भीष्म ने सप्तांग सिद्धान्त के अन्तर्गत अमात्य (मन्त्री) को राज्य का आवश्यक अंग बताया है।

महाभारत में मंत्री रखने की सलाह राजा को प्रदान की गई है। परन्तु प्राचीन भारतीय राजशास्त्र विद्वानों में से किसी ने भी इतनी बड़ी मंत्रिपरिषद् रखने की सलाह नहीं दी है।

मंत्रिपरिषद् के निर्माण के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है कि उसमें चारों वर्णों के सुयोग्य व्यक्ति का होना परमावश्यक है। भीष्म ने वैश्य वर्ण के सदस्य को मंत्रिपरिषद् में अधिक सम्मिलित करने पर जोर दिया। उन्होंने शान्ति पर्व में इसके 47 सदस्यों में से 4 ब्राह्मण, 18 क्षत्रिय, 21 वैश्य, 3 शूद्र व 1 सूत सदस्य बनाने की बात भी स्वीकारी। शांति पर्व के अनुसार परिषद् के सदस्यों की योग्यता उनके वर्गानुकूल ही होनी चाहिए। जैसे ब्राह्मण सदस्य वेद का ज्ञाता, पवित्र आचरण व उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाला हो। इसी प्रकार क्षत्रिय सदस्य के लिए यह आवश्यक था कि वह शस्त्र धारण करने की क्षमता व बल सम्पन्नता रखने वाला हो तथा वैश्य सदस्यों के लिए धन सम्पन्नता की ही आवश्यक शर्त मानी गयी। शूद्र सदस्यों के लिए यह आवश्यक था कि कर्त्तव्य परायण, विनम्र और पवित्रता के गुणों से वह युक्त हों।

मंत्रिपरिषद् की अधिक संख्या के कारण मंत्रणा गुप्त रखना कठिन था इसलिए भीष्म ने 8 सदस्यों की अन्तरग परिषद समिति का बनाने और इसके उपरांत अन्तरंग सभा के 3 सदस्यों की परम अन्तरंग समिति का निर्माण करने की सलाह भी प्रदान की। शांति पर्व में अंतरंग और परम अन्तरंग समिति के सदस्यों के अधिकार कर्तव्यों पर कदापि प्रकाश नहीं डाला गया था। मंत्रिपरिषद के सदस्य अमात्य और 8 सदस्यों वाली समिति के सदस्यों को मंत्री कहकर पुकारा गया था। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि राजा को परम अन्तरंग समिति के मंत्रियों से हर समय परामर्श करते रहना परम आवश्यक भी है। महाभारत में यह व्यवस्था राज्य के कार्यों को गुप्त रखने की दृष्टि से भी की गई।

महाभारत में परम अन्तरंग समिति के सदस्यों को ही राजा का वास्तविक मंत्री कहा गया था जिनकी सलाह के बिना वह राज्य की किसी भी योजना को कार्यरूप कदापि नहीं दे सकता था। अन्तरंग समिति का प्रधान राजा होता था तथा राजा मंत्रियों से संयुक्त या विमुक्त दोनों प्रकार सलाह ले सकता था। राज्य के गोपनीय विषय इस समिति में पूर्णतः प्रस्तुत किये जाते थे। प्रत्येक विषय पर विशद विवेचन परमावश्यक था। मंत्रियों के सामूहिक व व्यक्तिगत निर्णय तथा राजा का स्वयं का निर्णय राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत करना परम आवश्यक था। राजगुरु का निर्णय लेकर राजा अन्तिम निर्णय मंत्रि–परिषद की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करता था। इस प्रकार मंत्रिपरिषद् श्रेष्ठ मंत्रणा देने व राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखने का कार्य भी करती थी।

मंत्रियों की योग्यता के सम्बन्ध में कहा गया है कि **"वे कुलीन कुल में उत्पन्न हों व अमात्य वंश में जन्म लिया हो तथा राज्य का निवासी हो, लोकप्रिय तथा भद्र चरित्र वाला हो।** उन्होंने मंत्रियों की योग्यता की जांच हेतु परीक्षा प्रणाली की भी व्यवस्था की थी। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि मंत्रिपरिषद के सदस्य सु–परीक्षित ही होने चाहिए। उन्होंने कहा कि मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की परीक्षा उपधा प्रणाली से लेनी परमावश्यक है। इस प्रकार अयोग्य व्यक्ति मंत्रिपरिषद् का सदस्य नहीं बनाया जाता था।

जो व्यक्ति राज्य का निवासी न होता, शासन कार्य से विरक्त होता, अनुभवहीन होता, अमित्रसेवन, अस्थिर संकल्प वाला, कुटिल स्वभाव, पापाचारी का पुत्र, मूर्ख, अपवित्र, जड़, आत्मप्रशंसक, क्रोधी, लोभी होता वह मंत्री पद के लिए पूर्णतः अयोग्य समझा जा सकता था।

● जन संसद

महाभारत के शान्ति पर्व से राज्य की सभा या जन संसद की जानकारी भी मिलती है। भीष्म पितामह से युधिष्ठिर प्रश्न करता है कि जन संसद में जब विद्वान, मूढ और प्रगल्भ व्यक्ति मृदु व तीक्ष्ण भाषणों द्वारा अपना क्रोध प्रकट कर रहे हों तो क्या करना चाहिए। तब इसके उत्तर में भीष्म ने कहा जन संसद में जो कोई आक्रोश द्वारा दोषारोपण करता है तो राजा उसके शंका का निवारण स्वयं प्राप्त कर लेता है तथा केवल उसके दृष्कृत्य ही उसके पास बचे रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की गर्हित बातों की उसी ढंग से उपेक्षा की जानी चाहिए जैसे रोग पीड़ित व्यक्तियों के वचनों की की जाती है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति जनता में विद्वेष उत्पन्न हो जाता है तथा उसका भाषण निष्फल भी हो जाता है। महाभारत से संकेतित है कि जनसंसद में मृदु और तीक्ष्ण दोनों प्रकार के भाषण हुआ करते थे। भीष्म ने राजा को सलाह दी कि वे इनकी उपेक्षा करे और जंगल में कौए की बकवास के समान इसके प्रति अपनी वृत्ति रखें। इससे स्पष्ट है कि महाभारत युग में संसद का विशेष महत्व नहीं था।

☛ <u>विशेष</u>

- राजा दण्ड का प्रतीक था। वह दण्ड धारण करता व अपने अधीन प्रजा में उसका सम्यक् प्रयोग करता था, परन्तु राजा दण्ड प्रयोग करने में स्वच्छन्द कदापि नहीं था।
- राजा को राजधर्म की सीमा के अन्तर्गत कार्य करना अनिवार्य था। यदि वह इस सीमा का उल्लंघन करता था तो स्वयं दण्ड का भागी हो जाता थे।
- राजा दण्ड का प्रयोग कर अपने अधीन प्रजा को उसके अनुसार आचरण करने को बाध्य करता था परन्तु उसे विधि निर्माण का अधिकार नहीं था। इसलिए शान्ति पर्व में भीष्म ने राज्य में सर्वोपरि स्थान राजा को न देकर विधि को प्रदान किया गया था।

● दण्ड की महत्ता

महाभारत में शान्ति पर्व में दण्ड की महत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है। शान्ति पर्व में तो राजा का नाम ही दण्डधर रख दिया गया था। यह दुष्टों का दमन व साधरण पुरुषों पर शासन करता था। दण्ड अनियन्त्रियों को नियन्त्रित करता था। महाभारत के अनुसार **"दण्ड समस्त लोकों पर शासन करता है, यह समस्त प्रजाओं एवं प्राणियों का संरक्षण करता है। जब कानून और व्यवस्था के संरक्षक सो जाते हैं, तब दण्ड जागता है। बुद्धिमान व्यक्ति दण्ड को ही धर्म समझते हैं। शान्ति पर्व के अनुसार दण्ड न बहुत कठोर हो और न बहुत सरल। वह किये हुए अपराध के अनुकूल हो। शासक की योग्यता दण्ड पर ही निर्भर है।"** महाभारत में राजा को दण्ड का सदुपयोग करने की सलाह भी प्रदान की गई है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि **"राजा का प्रधान दायित्व है कि वह दण्ड का ठीक तरह से प्रयोग करे और अपराधियों पर नियन्त्रण कर देश को बाह्य एवं आन्तरिक संकटों से बचाये।"** शान्ति पर्व में दण्ड को ही राज्य का कारण कहा गया था। एक अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि **"दण्डनीति का पूरा प्रयोग करने पर सतयुग, चौथाई अंश का परित्याग करने पर त्रेता आधे का त्याग करने पर द्वापर और केवल चौथाई अंश का प्रयोग करने पर कलियुग आ जाता है।"**

● न्याय व्यवस्था

महाभारत काल में न्याय व्यवस्था सरल थी व उन दिनों न पेशेवर वकील थे और न अदालती खर्च का कोई झंझट। मुकदमों का फैसला राजा स्वयं ही करता था। वादी प्रतिवादी उसके पास बेरोकटोक आ–जा सकते थे। न्याय पूर्णतः निष्पक्ष होता था। अपराधी को कठोर सजा भी दी जाती थी। दण्ड जांच–पड़ताल के बाद ही दिया जाया करता था। राजा का कर्तव्य था कि भ्रष्ट न्यायाधीश के कारण अपराधी कदानि बच न सकें। धनी और गरीब में विवाद होने पर यह ध्यान भी रखा जाता था कि अमात्य ऐसें मामले में धन के लालच में मुकदमे पर ठीक ढंग से विचार कर निर्णय करे।

न्यायाधीश के पद पर कानून व राजनीति के ज्ञाता ही नियुक्त किये होते थे। पक्षपात करने वाला न्यायाधीश पापी माना जाता था। उत्तरकाण्ड से यह ज्ञात होता है कि न्यायालय की बैठक सभा भवन में प्रातः काल ही होती थी। प्रजा के सभी वर्ग के लोग न्यायालय में राजा के सामने उपस्थित होकर अपनी शिकायतें प्रस्तुत कर देते थे। जिस आसन पर बैठकर राजा मुकदमों का निर्णय करता वह धर्मासन ही कहलाता था। सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष स्वयं राजा ही होता था। अन्य न्यायाधीश भी शासन में उपस्थित होते थे यथा – पुरोहित वसिष्ठ, धर्म पारग, व्यवहार, ब्राह्मण मंत्रिगण, परम्परा व लोकाचार ज्ञाता, प्रमख व्यापारी (नैगम) और राजा के भाई। यदि राजा किसी व्यति को न्यायालय के द्वार पर रोकता तो उसे पाप लगना माना जाता था। राजा नृग व राजा निमि ने ऐसा ही किया था और वे पाप के भागी बने थे। न्यायालय में प्रत्येक व्यक्ति को तत्काल उपस्थित होने की स्वीकृति भी प्राप्त थी। वकील, स्टाम्प व फीस की जरूरत कदापि नहीं थी। प्रायः न्यायालय में राजद्रोह में झूठी गवाही, कुमारी का बलात्कार, पराई स्त्री अपहरण, ट्रस्ट सम्पत्ति दुरूपयोग, चोरी, डकैती, ब्रह्महत्या, युद्ध में पीठ दिखाना, सैनिकों को वेतन न देना, बालकों, वृद्धों, राजा की हत्या, आग लगाना, गुरू स्त्री गमन व जलाशय में विष मिलाना जैसे मामलों में कठोर दण्ड दिया जाता था। अपराधी को यातना से लेकर मृत्युदण्ड तक प्रावधान था। फांसी प्रायः प्रातः काल में ही प्रदान की जाती थी। परन्तु कठोर न्याय शासन के कारण अपराध बहुत कम हो गये थे। महाभारत काल में यह न्याय व्यवस्था जारी रही। महाभारत में भी कहा गया है कि **"पापियों पर नियन्त्रण न रखने वाला राजा पाप का भागी होता है। शराबखाना खोलने, वेश्याओं कुट्टनियों के दलाल, जुआरी, तथा ऐसे ही बुरा पेशा करने वाले लोग राष्ट्र को हानि पहुंचाते हैं। अतः इन सबको दण्ड देकर दबाए रखना चाहिए।"**

न्याय के स्रोत

महाभारत से संकेत मिलता है कि मनुष्य को उचित न्याय दिलवाना राजा का ही कर्तव्य था। इसके लिए यह आशा की जाती थी कि न्यायालय में वह निष्पक्ष न्याय करता रहेगा। प्राचीन परमपरानुसार राजा सभासदों के सहयोग से न्याय कार्य करता था। इस कार्य में उसे धर्म और शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों का सहयोग भी प्राप्त था। महाभारत से विधि के स्रोतों की जानकारी भी मिलती है। शान्ति पर्व में भीष्म के द्वारा कहा गया है कि **"राज्य में धर्मशास्त्र के अनुसार न्याय व्यवस्था की स्थापना होनी चाहिए ताकि सभी के साथ समान व्यवहार हो सके।"** भीष्म ने विधि के चार स्रोत बताये हैं जिनके नाम निम्नवत है। देवसम्मत (ब्रहमा द्वारा निर्मित एक लाख श्लोकों वाला ग्रन्थ महाभारत), ऋषि–सम्मत (ऋषि मुनियों द्वारा निर्मित नियम या ब्राह्मणों द्वारा दी गई व्यवस्था), लोक सम्मत (जनता द्वारा निर्मित नियम) व संस्था सम्मत (वे नियम जो विभिन्न संस्थाओं या समुदायों ने बनाये हैं। जैसे देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म आदि)।

☛ विशेष

क्षत्रीय शासन

- महाभारत से राज्य की प्रादेशिक व्यवस्था की जानकारी भी मिलती है। शान्ति पर्व के अनुसार जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत जो नगर आने थे उनके लिये एक–एक सर्वार्थ चिन्तक शासक की नियुक्ति ही की जाती थी तथा ये सब पदाधिकारी राजा की सभा में सभासद के रूप में सम्मिलित थे।
- ग्रामिक का कार्य गाँव के कार्यों को सम्पन्न करवाना था तथा वह गांव की कमियों को दूर कर देता था। वह ग्राम सम्बन्धी सूचनाएं दशिक के पास भेजा करता था। सभापर्व में आया है कि प्रत्येक गांव में 5–5 अधिकारी रहते थे। ये अधिकारी स्थायी या वंश परम्परा से होते थे। सी.वी.वैद्य ने इस विवरण के आधार पर टीकाकार को उद्धत करते हुए कहते है कि **"गांव के पांच अधिकारी निम्न होते थे – प्रशास्ता, समाहर्ता (वसूली करने वाला), सन्निधोना लेखक (पटवारी) और साक्षी।"** ये पांच अधिकारी शुर, सज्जन व एक मन से काम करने वाले होते थे तथा दशिक विशाधिक को, विशाधिक शतपाल को, शतपाल सहस्रपाल को व सहस्रपाल सम्पूर्ण सूचनाएं राजा को प्रेषित करने का कार्य करता था। नगर, पुर अथवा राजधानी के पदाधिकारी अपने–अपने क्षेत्र का शासन स्वयं ही करते थे।
- शान्ति पर्व में जनपद के शासन, उसके अधिकारी व उनके कर्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएं भी दी गई हैं जो मनुस्मृति के विवरण से मिलती है। भीष्म का यह मत है कि जनपद में नगर के अलावा गांव भी सम्मिलित थे। नगरों की संख्या तो कम ही थी परन्तु नगरों के शासन हेतु सर्वार्थचिन्तक नामक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इनके कर्तव्यों का जो विवरण भीष्म ने दिया है मानो वह मनुस्मृति से ज्यों का त्यों ही उठाया गया हो।

प्रमुख अधिकारी

महाभारत में 14 अधिकारियों की कल्पना टीकाकारों ने की है। अन्य स्थान पर 14 अधिकारियों की चर्चा सी.वी. वैद्य ने अपने ग्रन्थ महाभारत मीमांसा में भी की है जिनके नाम निम्नवत हैं। देशाधिकारी, स्थाधिपति, दुर्गाधिकारी, गजाधिपति, अश्वाधिपति, शूर सैनिक (पदाति), अन्तः पुराधिमति, अन्नाधिपति, शस्त्राधिपति, सेनानायक, आय–व्ययाधिपति, धनाधिपति गुप्तदूत और मुख्य कार्यकर्ता तथा इनमें से अधिकांश अधिकारी सेना से सम्बन्धित माने गये थे।

● आर्थिक व्यवस्था

महाभारत से देश की आर्थिक व्यवस्था व संस्थाओं की जानकारी भी प्राप्त होती है, जो निम्नवत है।

कोष की उपयोगिता

भीष्म ने महाभारत में कोष को राज्य का अति आवश्यक अंग बताया है। कोष के सम्बन्ध में भीष्म व मनुस्मृति के विचार लगभग समान है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि राजा को सचेष्ट होकर कोष की पूर्णतः रक्षा करनी चाहिए। निश्चयपूर्वक कोष राजाओं का मूल्य व उसकी वृद्धि का एकमात्र कारण है। राजा का मूल कोष व सेना ही है। सेना का मूल कोष बताया गया है तथा सेना समस्त धर्मों का मूल है व धर्म प्रजा का मूल है।

कर संचय के सिद्धान्त

राजा को कोष का अर्थ संचय के सम्बन्ध में स्वतंत्र नहीं समझना चाहिए। यदि अर्थ संचय में राजा को स्वतंत्र कर दिया जायेगा तो प्रजा को क्लेश प्राप्त होने की सम्भावना अधिक बन जायेगी। इसलिए राजकोष में धन संचय हेतु कई सिद्धान्त बनाकर भीष्म ने उनका उल्लेख शान्तिपर्व में निम्नवत किया।

कर संचय के सिद्धांत

प्रथम	**द्वितीय**	**तृतीय**	**चतुर्थ**	**पंचम**	**षष्ठ**	**सप्तम**	**अष्टम**
प्रजापरिपुष्ट सिद्धांत	व्यथामुक्त सिद्धांत	लाभपर कर सिद्धांत	प्रजारक्षण सिद्धांत	वेतन सिद्धांत	अधिक कर निषेध सिद्धांत	शनैःशनै कर वृद्धि सिद्धांत	आपात कर सिद्धांत

प्रथम – यह प्रजा परिपुष्ट सिद्धान्त है। जिसके अनुसार राजा पहले प्रजा को धन सम्पन्न करे जिस कारणवश वह स्वयं उसे कर देने के लिए उत्सुक रहे। इस सम्बन्ध में गाय, माता व माली के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। गाय से दूध पाने की अभिलाषी दुहने से पूर्व उसकी सेवा कर उसे तृप्त करता है जिससे वह स्वयं ही दूध को आतुर हो जाती है। राजा कोयला बनाने वाले जैसा व्यवहार न करे जो कोयला प्राप्त करने के उद्देश्य में पेड़ को ही नष्ट कर देते हैं।

द्वितीय – यह व्यथा मुक्त सिद्धान्त है। इसके अनुसार राजा प्रजा पर इस विधि से कर लगाये कि उसे लेशमात्र भी कष्ट न प्रतीत हो। इस सम्बन्ध में बाधिन, भ्रमर व जोंक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। भौंरा जब पुष्प में से शहद ग्रहण करता है तो उसे मालूम भी नहीं पड़ता।

तृतीय – यह लाभ पर कर का सिद्धान्त है। इसके अनुसार राजा मूल पूंजी पर कर न लगाकर केवल लाभ पर कर लगाये।

चतुर्थ – यह प्रजारक्षण सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रजा रक्षा हेतु राजा का कर लगाना आवश्यक हैं। राजा उपज के छठे भाग को कर के रूप में प्राप्त करे।

पंचम – यह वेतन सिद्धान्त है। भीष्म ने राजा को वेतन भोगी सेवक स्वीकारा। इसलिए प्रजा की सेवा हेतु वह कर लगा सकता था तथा वह उसका वेतन होता था।

षष्ठ – यह अधिक कर निषेध सिद्धान्त कहलाता है। भीष्म ने राजा को प्रजा की सामर्थ्य से अधिक कर लगाने से रोका था। वे कहते हैं कि गाय का अधिक दोहन करने से जो दशा बछड़े की होती है। वही अधिक कर वसूल करने पर प्रजा की हो जाती है।

सप्तम – यह शनैः शनैः कर वृद्धि का सिद्धान्त है व जिसके अनुसार राजा द्वारा लगाये गये कर की वृद्धि प्रारम्भ में कम बतायी गयी। कर वृद्धि शनैः शनैः व अल्प मात्रा में करनी चाहिए। एकाएक कर बढ़ाने पर जनता विद्रोह भी कर सकती है।

अष्टम – यह आपात कर सिद्धान्त है जिसके अनुसार राजा जनता पर आपातकाल में या बाहरी आक्रमण हो जाने पर विशेष कर लगा सकता था। भीष्म ने युधिष्ठिर से यह कहा था कि **"यदि शत्रु के राज्य पर आक्रमण करने से तुम्हारा बहुत सा धन व्यय हो चुका है तो तुम प्रजा को समझा बुझाकर, कर लगाकर धन प्राप्त कर सकते हो।"**

विविध कर

महाभारत के शान्ति पर्व में ही भीष्म ने राजा द्वारा प्रजा से वसूल किये जाने वाले करों का भी उल्लेख किया है। इन करों में बलि, पशुकर, हिरण्यकर, शुल्क, दण्ड, आकर कर, लवण कर और तरणकर मुख्य बताये गये हैं। बलि कर का तात्पर्य कृषि एवं कृषक जनता की रक्षा हेतु लिया जाने वाला कर बताया गया है जिसे उपज का 8वां भाग लेने का विधान ही था। पशु से जो लाभ होता है उसका 50वां

भाग पशुकर रूप में लिया जाता था। शुल्क का तात्पर्य व्यापारियों से बाजारों, हाटों, मार्गों की व्यवस्था व सुविधाओं के लिए लिए जाने वाले कर से बताया गया था। भीष्म ने व्यवस्था की कि शुल्क संचय हेतु स्थान पूर्णतः निर्धारित हो। हिरण्यकर, सोने की उत्पत्ति व विक्रय पर लिया जाने वाला कर था। अपराधों को रोकने हेतु अपराधियों से लिया जाने वाला धन दण्ड कर की श्रेणी में सम्मिलित था। खनिज पदार्थ खानों से ही प्राप्त होते थे। खानों के मालिकों से लिया जाने वाला कर आकर कर कहलाया। यह कर भी राजकोष वृद्धि का मुख्य साधन माना गया था। भीष्म लवण उत्पादन पर लिया जाने वाला कर भी आवश्यक मानते थे। आवागमन की सुविधा हेतु नदी, नालों या अन्य जल स्थानों से लिया जाने वाला कर तरण कर कहलाया था। शान्ति पर्व के अनुसार कर सभी लोगों को देना आवश्यक था। ब्राह्मणों को जो वैदिक पुरोहित या क्षत्रिय हो राजकर से मुक्त थे।

● सैन्य व्यवस्था

युद्ध के सम्बन्ध में महाभारत में यह बताया गया है कि जहां तक संभव हो राजा बिना युद्ध किए ही अपने उद्देश्य की पूर्ति करे। राजा विजित किए गए क्षेत्र के नागरिकों की रक्षा का वचन दे तथा फिर उनसे कर प्राप्त करे। महाभारत में यह भी कहा गया है कि **"राजा का युद्ध राजा से ही हो।"** यदि युद्ध के मध्य ब्राह्मण शान्ति अवलम्बन का आदेश दे तो उसे दोनों दलों को स्वीकारना चाहिए। महाभारत शरणागत व्यक्ति का वध न करने का उपदेश भी देती है। युद्ध में वृद्ध, बालक, स्त्री का वध न किया जाना भी बताया गया है। मुख में तृण रखकर कोई यह कहे कि मैं आपका हुआ तो उसका वध कदापि नहीं करना चाहिए। शान्ति पर्व में युद्ध से असम्बद्ध, विषय–विशेषज्ञ, सेवक, रण से भागे हुए व्यक्ति का वध न करने का उपदेश भी दिया गया है। भीष्म इस विषय में कहते हैं कि **"इनका वध करने वाले नरकगामी होते हैं उसके पितर भ्रूण हत्या के पाप के भागी होते हैं।"** महाभारत काल में चतुरंग व्यवस्था में विश्वास प्रस्तुत किया जाता था। महाभारत में सप्तांग राज्य का प्रधान अंग दण्ड को माना गया है। दण्ड के दो स्वरूप बताए गए हैं – प्रकाश दण्ड और अप्रकाश दण्ड। प्रकाश दण्ड सेना या बल है जिसके आठ अंग बताए गए हैं। सेना के ये आठ अंग रथारोही, गजारोही, अश्वारोही, नौकारोही, पैदल, विष्टि, भारवाहक, वर और उपदेशक थे। अप्रकाश दण्ड से भीष्म का तात्पर्य उन उपायों से था जिनसे शत्रु का अन्त गुप्त रीति से ही किया जा सकता था। उन्होंने अप्रकाश दण्ड के अन्तर्गत जंगम अजंगम चूर्ण योग वस्त्र व भोजन में विष मिलाकर शत्रु का प्राणान्त करना बताया। शान्ति पर्व में सेना के युद्धाभ्यास व अधिकारियों, कर्मचारियों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन बताया गया है। सेना में 10; 100; 1000 सैनिकों पर एक अधिकारी हुआ करते थे। चारों अंगों के भिन्न–भिन्न सेनापति होते थे।

महाभारत में भी सैनिकों को वेतन नकद व अनाज रूप में देने का वर्णन मिलता है। सेनापति के लिए आवश्यक था कि वह व्यूह यंत्र और आयुध जानने वाला हो। सैनिक प्रायः कवच धारण किया करते थे। योद्धा धनुष–बाण का प्रयोग मन्त्र पढ़ने के बाद करते थे। युद्ध में अनेक घोड़ों वाले रथों का प्रयोग भी किया जाता था। रथ की ध्वजा पर उसके महारथी का निशान होता था। युद्ध में जख्मी होने वाले व्यक्ति को औषधि दी जाती थी। युद्ध में विजय प्राप्त करने हेतु सेनापति व्यूह रचना (प्रसिद्ध व्यूह चक्रव्यूह) किया करते थे। महाभारत काल में पत्थर बरसाने वाले यन्त्रों का प्रयोग भी किया जाता था। महाभारत में कहा गया है कि युद्ध के अठारवें दिन शल्य के नेतृत्व में कौरवों के पास तीन करोड़ पैदल, तीन लाख सवार तथा पाण्डवों के पास दो करोड़ पैदल और दस हजार सवार शेष थे। स्त्री पर्व के अनुसार महाभारत युद्ध में 66 करोड़, एक लाख तीस हजार व्यक्तियों की मृत्यु हुई। यह संख्या महाभारत में कम जान पडती है।

18 अक्षौहिणी सेना से अधिक है। संक्षेप में कह सकते हैं कि महाभारत काल में सेना का संगठन उच्च कोटि का देखने को मिलता है। उस समय प्रयोग में लिए जाने वाले शस्त्र समय की आवश्यकतानुसार पर्याप्त थे।

विशेष

गुप्तचर

- महाभारत में गुप्तचर व्यवस्था का भी वर्णन है। गुप्तचर यदि पकड़ लिया जाता तो मृत्यु का पात्र हुआ करते थे। अनेक बार गुप्तचर पकड़े जाने पर स्वयं को दूत बता देते थे। राजधानी के चारों द्वारों पर शत्रु की गतिविधियों का वे ध्यान रखा करते थे। गुप्तचर दो प्रकार के हुआ करते थे। नागरिक गुप्तचर व सैनिक गुप्तचर। गुप्तचर को सदैव राजभक्त, वीर व निर्भीक रहना पड़ता था। वेदव्यास के अनुसार जिन लोगों की अच्छी तरह परीक्षा हो गई हो जो बुद्धिमान होने के बाद भी दिखने में गूंगे, अंधे और बहरे जान पड़ते हों और भूख प्यास सहने का सामर्थ्य रखते हों उन्हें गुप्तचर रूप से नगर जनपद, व्यायाम शालाओं, बाजारों, उत्सवों, भिक्षु समुदायों, घूमने के स्थानों, सभाओं, चौराहों धर्मशालाओं में नियुक्त किया जाता था। विश्वासपात्र गुप्तचरों को पृथ्वी पर चारों ओर घुमाते रहना चाहिए। गुप्तचरों को इस युक्ति से नियुक्त किया जाता कि वे आपस में एक दूसरे को पहचान न सकें। शान्ति पर्व के अनुसार राजा को गुप्तचरों की सहायता से शत्रुसेना की संख्या का पता लगाना चाहिए। उनसे शत्रु सेना में फूट डलवानी चाहिए।

राजदूत

- प्राचीनकाल में राजा का दूत दूसरे राज्यों के शासकों के पास संदेश लेकर जाता था। भीष्म के अनुसार दूत को अवध्य माना गया है। शान्ति पर्व के अनुसार दूत का वध करने वाला स्त्रियों सहित नरकगामी होगा। उसके पितर भ्रूण–हत्या पाप के भागी बनेंगें।

षडगुण्य नीति एवं उसका व्यावहारिक पक्ष

यान व विग्रह का तात्पर्य सैनिक अभियान से होता है। जब कोई राजा शत्रु से ज्यादा शक्तिशाली होता तो इस नीति को अपनाया जाता था। आसन नीति वह है जब राजा अनुकूल स्थिति की प्रतीक्षा में शान्त बैठ जाता है। समाश्रय के अन्तर्गत राजा अपने शत्रु के विरुद्ध किसी शक्तिशाली राजा से मदद की मांग करता है। द्वैधीभाव के अन्तर्गत एक तरफ शान्ति प्रयास किया गया है तो दूसरी तरफ आक्रमण कर सैनिक कार्यवाही कर दी जाती थी। महाभारत के शान्ति पर्व में वेदव्यास ने कहा है कि राजा की सम्पन्नता षड्गुण्य नीति के उचित संचालन पर निर्भर हुआ करती थी। वे कहते हैं कि जो राजा छः गुण, तीन वर्ग और तीन परम वर्ग इन सबको अच्छी तरह जानता है वही इस पृथ्वी का सही उपयोग कर सकता है। वेद व्यास ने संधियों के अन्तर्गत उत्तम, मध्यम, अधम या समाश्रय का वर्णन किया है।

महाभारत में राजा को राजनय के चार उपाय साम, दाम, दण्ड और भेद निभाने की शिक्षा दी जाती है। कमजोर राज्यों को सलाह दी जाती थी कि वे शक्तिशाली राज्यों को हाथ जोड़कर प्रसन्न रखें। शत्रु बल ज्यादा होने पर झुकना ही उचित माना गया है। राजा सदैव सतर्क एवं सजग रहते थे। बुद्धिमान राज्य को शत्रु की कमजोरी का पता लगाकर उसे उखाड़ना चाहिए। विश्वास दूत भेजकर शत्रु में फूट डलवाया करते थे। जब साम, दाम, भेदनीति, असफल हो जाये तो दण्डनीति का प्रयोग किया जाता था। शान्ति में तटस्थ रहना भी राजनय का साधन बताया गया है। भीष्म कहते हैं कि जो अपने से अधिक शूरवीर हों उसे हाथ जोड़कर वश में करें, डरपोक को भय दिखाकर फोड़ लें, लोभी को धन देकर काबू

में कर ले तथा जो बराबर का हो उसके साथ युद्ध किया जाना चाहिए। शत्रु को उखाड़ फेंकने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। राजा को न सदैव दयालु और न सदैव निष्ठुर रहना चाहिए। सफलता चाहने वाले राजा को धर्म और अधर्म दोनों ही मार्गों का अनुसरण करना चाहिए। राजा दूसरों का विश्वासपात्र बने परन्तु स्वयं दूसरों का जिसमें उसके पुत्र भी हों विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति सप्तांग राज्य विरुद्ध कार्य करता हो तो उसका वध करना चाहिए। चाहे वह व्यक्ति आचार्य या मित्र भी क्यों न हो। राज्य पर आक्रमण हो जाने पर राजा ब्राह्मण एवं साधुओं को छोड़कर बाकी सबका धन अपहरण अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। भीष्म ने राज्यहित में राजा को धर्मनीति से विचलित होने तक की सलाह दी है। भीष्म ने राजा द्वारा बलपूर्वक धन संग्रह के प्रायश्चित स्वरूप उसे (राजा को) अश्वमेध यज्ञ करने की सलाह भी दे डाली है।

● गण एवं संघ राज्य

महाभारत में गणराज्यों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी देखने को मिलती है। भीष्म को गण व संघ राज्यों का पूर्ण ज्ञान था। गण की दृष्टि में कोई व्यक्ति जाति कुल की दृष्टि से छोटा बड़ा नहीं माना गया था। भीष्म ने गणों में चर या गुप्तचर नियुक्त करने की बात का वर्णन किया है। जिससे सिद्ध होता है कि गण राजनीतिक संस्थाएं अर्थात् राज्य रूप में ही होते थे। महाभारत काल में योधेय, मालव, शिवि, औदुम्बर, अन्धकवृष्णि, त्रिगर्त, माध्यमकेय, अम्बष्ठ, वातधान, यादव, कुकुर, भोज आदि गणराज्य प्रमुख हुआ करते थे। यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णि गणों ने मिलकर एक संघ बना लिया था। इस संघ के मुखिया कृष्ण थे। उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता कायम रख अपने को एक संघ में इकट्ठा किया। कृष्ण को भी संघ में विविध जातियों की कटु आलोचना को सहन करना पड़ता था। वे इनका उत्तर मीठे वचनों से या सबका यथा–योग्य सत्कार करके दिया करते थे। महाभारत के अनुसार कृष्ण ने कंस वध किया व उसके पिता उग्रसेन को यादव संघ का प्रधान बनाया गया। वर्ण–विजय पर्व व सभापर्व में भद्र, रोहितक, आग्रेय, मालव, आदि गणों का वर्णन मिलता है। शान्ति पर्व में गणों के उत्थान के लिए अनेक मार्ग बताये गये हैं। जो निम्नलिखित हैं।

1. गणशास्त्रानुकूल धर्म व व्यवहार से चलना चाहिए।
2. गण के सदस्य पक्षपात एवं लोभ से परे रहते थे।
3. कुलों के नेता अपने पुत्रों व भाइयों को नियन्त्रण में रखना चाहिए।
4. गण मुखियों का सम्मान करना चाहिए।
5. गोपनीय विषय सम्पूर्ण गण में उपस्थित नहीं करने चाहिए।
6. शत्रुगण में धन या लालच देकर फूट नहीं डालनी इसलिए उसे फूट से बचाना चाहिए।
7. गण की आभ्यन्तर भय से रक्षा करनी चाहिए।
8. गण के जीवित रहने हेतु संघ बनाये रखने पर जोर दिया जाना चाहिए।
9. पुरुषार्थ, कर्तव्यपरायण, बुद्धिमान, बलवान व्यक्ति का सम्मान करना चाहिए।

गणों के पतन के कारण भी महाभारत में वर्णित हैं। जो निम्न हैं।

1. क्रोध, लोभ व मोह से मुख्य नेताओं में फूट ड़ाली जाती थी।

2. शत्रु धन से संघ में फूट डाला करते थे।

3. पतन से बचने हेतु संघात रूप में रहना आवश्यक हुआ करता था।

4. शास्त्र मर्यादित धर्म का त्याग नहीं कर सकते थे।

5. गण मुख्य का सम्मान नहीं करने पर

6. गुप्त भेद प्रकट हो जाने पर।

महाभारत में कहा गया है कि आभ्यन्तर भय ही गणों की जड़ों को काटने वाला हुआ करता था। शत्रु लोग भेद व धन के प्रदान द्वारा ही गणों को जीता करते थे। अतः संघात ही एक ऐसा उपाय जिनसे गणों की रक्षा हो सकती थी शान्ति पर्व के अनुसार गणों के संघ में प्रभुसत्ता संघ की सभा हुआ करती थी। इस सभा में संघ के सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि बैठकर विचार–विमर्श किया करते थे। सदस्य वाद–विवाद के उपरांत बहुमत से निर्णय करते थे। सभाध्यक्ष राजा व उपाध्यक्ष उपराजा कहलाता था। संघ की सभा में दलबन्दी भी हुआ करती थी। प्रत्येक दल चाहता था कि उनकी पसन्द का व्यक्ति राजा एवं अध्यक्ष बने। अन्धक, वृष्णि, कुकुर, भोज व यादव राज्यों की जनता अपने कल्याण हेतु संघ अध्यक्ष कृष्ण पर आश्रित रहती थी। नारद के अनुसार कृष्ण ही ऐसे व्यक्ति थे जो इस संघर्षयुक्त संघ का भार उठाने में समर्थ थे। इस विवरण से संकेतित है कि महाभारत काल में राजतन्त्र व गणतन्त्र दोनों प्रकार की शासन पद्धतियां प्रसिद्ध थीं।

पुर और जनपद

भीष्म ने शासन की दृष्टि से राज्य को पुर व जनपद दो भागों में विभाजित किया था।

पुर: पुर से भीष्म का तात्पर्य उस नगर या दुर्ग से था जो राज्य की राजधानी था। भीष्म के अनुसार पुर में दुर्ग होना अत्यंत आवश्यक है। परन्तु दुर्ग ही पुर है ऐसा वे कदापि नहीं मानते। दुर्ग पुर का अंश होता था। पुर का शासन केन्द्रीय अधिकारी वर्ग के अधीन ही था। शान्ति पर्व के अनुसार पुर को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों ओर प्राकार व परिखा (खन्दक) होना आवश्यक था। दुर्ग छः प्रकार के होते थे– ध्वज दुर्ग, मही दुर्ग, गिरि दुर्ग, मनुष्य दुर्ग, मृत्तिका दुर्ग और वन दुर्ग। देश काल के अनुसार इनमें से किसी एक दुर्ग का राजधानी के निर्माण में उपयोग किया जाता था। भीष्म ने किस जाति को कहां बसाया जाये व उसके उत्थान के लिए कौन से साधन जुटाने चाहिए इसका भी उल्लेख विस्तारपूर्वक किया है। पुर में निवासियों हेतु भरण–पोषण सामग्री का होना भी परम आवश्यक है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे स्वावलम्बी होकर उसकी रक्षा कर सकें।

जनपद: राज्य को पृथक् कर देने के बाद राज्य को जो क्षेत्र अवशेष रह जाता वह जनपद कहलाता था। जनपद अनेक बस्तियों से मिलकर बना होता था। सबसे छोटी इकाई ग्राम, फिर दस ग्रामों, बीस ग्रामों, सौ ग्रामों और हजार ग्रामों का क्षेत्र बना होता था। जिस पर राजा के मन्त्रिमण्डल का सदस्य प्रशासन कार्य करता था। इसके अधिकारियों का उल्लेख मनुस्मृति में देखा गया है क्योंकि शान्ति पर्व में वैसा ही विवरण उपस्थित है। जनपदों के अलावा नगरों का भी उल्लेख महाभारत में विस्तारपूर्वक मिलता है जिसमें सर्वा चिन्तक शासन किया करते थे। स्थानीय प्रशासन में श्रेणियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

● छात्र क्रियाकलाप

1. महाभारत में वर्णित राजा के दैवी उत्पत्ति सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

2. राज्य उत्पत्ति हेतु सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

3. महाभारत में वर्णित न्याय व्यवस्था पर चर्चा कीजिए।

● सारांश

- महाकाव्य भारतीय संस्कृत साहित्य के अनमोल रत्न माने गये हैं। इनसे प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार व प्रशासनिक संस्थानों के संबंध में जानकारी वर्णित है। महाकाव्यों से भारत में दण्डनीति के उत्कर्ष, राज्यों की स्थापना, राजा की स्थिति, उसके अधिकार, कर्तव्य, गुण–दोष व उत्तराधिकार के नियमों का ज्ञान मिलता है। महाकाव्यों में मंत्रिपरिषद्, संसद, दण्ड–व्यवस्था, न्यायाविधि, आर्थिक गतिविधियों, षडगुण्य, गण, संघ, पुर व जनपद पर विस्तार से वर्णन किया गया है। भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों के विकास का अध्ययन करने हेतु महाकाव्य प्रामाणिक सूत्र के रूप में उपयोग में लाए गए है। महाकाव्य धर्मनीति की दृष्टि से प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनसे हमें राजनीति के इतिहास पर धर्म के प्रभाव को लक्षित करने में समुचित सहायता प्राप्त हुई है।

● अभ्यास प्रश्न

1. महाभारत कालीन मंत्रि–परिषद का वर्णन कीजिए।
2. महाभारत कालीन गण व संघ राज्यों पर चर्चा कीजिए।
3. महाभारत के संबंध में पश्चिमी इतिहासकारों की धारणा का वर्णन कीजिए।

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. महाभारत का मूल नाम क्या है?

   (अ) जय संहिता (ब) नीतिशास्त्र

   (स) प्राचीन ग्रन्थ (द) धार्मिक ग्रन्थ

2. महाभारत के रचयिता का नाम है?

(अ) वाल्मिकी (ब) कबीरदास

(स) वेदव्यास (द) चाणक्य

3. महाभारत का युद्ध कितने दिन चला था?

(अ) 21 दिन (ब) 14 दिन

(स) 17 दिन (द) 18 दिन

4. महाभारत किस वर्ग में आता है?

(अ) स्मृति वर्ग (ब) युद्ध वर्ग

(स) साहित्य वर्ग (द) काल वर्ग

5. द्यूत क्रीड़ा हेतु कौरवों ने जो सभा (भवन) बनवाई थी उसका क्या नाम था?

(अ) वैदूर्यसभा (ब) सुधर्मा

(स) तोरणस्फटिक (द) शुमेच्छु

6. कौरवों द्वारा पांडवो को जिस लाक्षागृह में जलाकर मार डालने का षडयंत्र रचा गया था, उसका नाम क्या था?

(अ) शुभम् (ब) भारत

(स) श्रेयस् (द) भास्कर

7. महाभारत युद्ध में जिस व्यूह के अंतर्गत अभिमन्यु की घेरकर मारा गया था उसका क्या नाम था?

(अ) शकट (ब) चक्र

(स) क्रौंच (द) सूचीमुख

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (स) 3. (द) 4. (अ) 5. (स) 6. (अ) 7. (ब)

5

मनु : राजनीतिक व सामाजिक विचार
(MANU : POLITICAL AND SOCIAL IDEAS)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- जीवन परिचय
- राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार
- राजा संबंधी विचार
- कर व्यवस्था संबंधी विचार
- कानून, न्याय व दण्ड संबंधी विचार
- विधायिका संबंधी विचार
- प्रादेशिक शासन संबंधी विचार
- विदेश नीतिः मण्डल सिद्धान्त व षाड़गुण्य नीति
- शासन संबंधी विचार
- मनु एवं कौटिल्यः तुल्नात्मक अध्ययन
- सारांश
- अभ्यास प्रश्न
- बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई को पढ़ने के निम्न तथ्यों को समझने के उपरान्त योग्य होगे:

➡ राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार

➡ शासन संबंधी विचार

➡ मनु एवं कौटिल्य का तुल्नात्मक अध्ययन

● प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन अत्यधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में मुगल काल तक माना जाता है। यदि भारतीय चिन्तन के विषय में पाश्चात्य समीक्षकों की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। परन्तु इसके बावजूद भारतीय चिन्तनः न केवल यर्थाथवादी वरन् बहुत हद तक आधुनिक भी हैं।

इस इकाई में हम मनु के राज्य की उत्पत्ति सबंधी विचार, राजा व उसके शासन सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करने के पश्चात् मनु के विधायिका संबंधी विचार कानून न्याय व दण्ड का भी अध्ययन करेंगे।

● सामान्य परिचय

प्राचीन भारतीय चिन्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्तन मनु का माना गया है। उन्होंने अपनी रचना मनुस्मृति में राजनीतिक चिन्तन पर अपने विचार प्रस्तुत किए। विभिन्न विद्वानों द्वारा इस कथन को स्वीकार भी किया गया है कि धर्मविषयक समस्त ज्ञान मनु के द्वारा ही प्रारम्भ किया गया था। "मनुस्मृति को हिंदू समाज की व्यवस्था की आधारशिला माना गया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में मनु स्मृति का सर्वाधिक महत्व देखने को मिलता है। मनुस्मति के रचना काल के सन्दर्भ में विद्वानों मे मतभेद है। महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु का उल्लेख देखने को मिलता है। डा०वी०सी० सरकार "मनुस्मृति" को ईसा से 150 वर्ष पूर्व की रचना कहते है। जबकि मैक्स मूलर इसे चौथी शताब्दी के बाद की रचना मानते है। डा० हण्डर इसे 60 ईसा पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं मानते है व कुछ विद्वानों का मत है कि यह रामायण व महाभारत काल की रचना है। इसके विपरीत फ्रांसीसी विद्वान रेनेगिनो मनु शब्द को ऐतिहासिकता से नहीं जोडते, उनके अनुसार मनु की उत्पत्ति मूलधातु मन से हुई हैं। जिसका अर्थ है चिन्तन, मनन व सार्वभौम बुद्धि व विचार। मन धातु से ही मनु व मानव की उत्पत्ति संभव है। रेनेगिनो का मत है **जिस प्रकार वेद की रचना का काल निर्धारित नहीं है। उसी प्रकार स्मृति की उत्पत्ति के संबंध में प्रयास भी निरर्थक है। स्मृतियाँ एक लम्बे काल तथा परम्परा का प्रतिनिधित्व होता है।** जबकि कुछ विद्वानों के मत के अनुसार मनुस्मृति का ज्ञान मनु से नारद, नारद से मार्कण्डेय, मार्कण्डेय से समुति भार्गव, समुति भार्गव से भृगु ऋषि में प्रवाहित हुआ है व भृगु ऋषि के द्वारा अन्त में मनुस्मृति का संकलन हुआ।

इसके रचनाकाल के संदर्भ में मतभेद अवश्य देखने को मिलता है परन्तु एक विधि ग्रन्थ, नियामक ग्रन्य रूप में इसकी मान्यता पर सर्वसम्मति देखने को मिलती है। भारत में ऋषियों में गौतम व बृहस्पति ने इसे सर्वश्रेष्ठ होने का दर्जा दिया। जर्मन विद्वान द्वारा इसके विषय में लिखा गया **"मनुस्मृति बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपम उत्कृष्ट और बौद्धिक ग्रन्थ है।"**

मैकेन्जी ब्राउन के अनुसार, **"यह हिंदु कानून का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।"**

मनुस्मृति की विषय वस्तु

मनुस्मृति में कुल 12 अध्याय संकलित है। जिनका अध्यायवार विवरण निम्नवत है।

मनुस्मृतिः अध्याय

प्रथम अध्याय	द्वितीय अध्याय	तृतीय अध्याय	चतुर्थ अध्याय	पंचम अध्याय
जगत की उत्पत्ति, भूलोक, अंतरिक्ष ज्ञान, नदी, समुद्र उत्पत्ति, स्त्रीपुरूष उत्पत्ति आदि व कुल 111 से 119 श्लोक व संक्षिप्त सूचियाँ पायी गयी हैं।	धर्मोपदेश, श्रुति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, सदाचार, यज्ञ, संस्कार, माता–पिता, चारों आश्रम आदि का वर्णन संकलित है।	ब्रह्मचर्य की महिमा, गृहस्थ कर्तव्य, यज्ञ की महिमा आदि का वर्णन वर्णित है।	मनुष्य के नित्यकर्मों का वर्णन, करने व न करने का योग्य कार्यों का वर्णन	स्त्री संबंधी व्याख्या, व अन्य शिक्षाओं का उल्लेख

षष्टम अध्याय	सप्तम अध्याय	अष्टम अध्याय	नवम अध्याय	बारवहें अध्याय
वानप्रस्थ की अवस्था, महिमा व सन्यास आश्रम आदि का वर्णन	राजव्यवस्था, प्रशासन के नियम, राज्य की उत्पत्ति, दण्ड की उत्पत्ति, कर व सेना संबंधी नियमों का उल्लेख आदि देखने को मिलता है।	दण्ड नियम, दण्ड से पूर्व छानबीन, अपराधों के लिए दिए जाने वाले दण्डों का विवरण मिलता है।	वैश्य, शूद्रों में धर्म का अनुष्ठान, विभिन्न प्रकार के वर्ण संस्कार आदि।	मोक्ष प्राप्ति के साधन, विभिन्न कार्यों के गुण–दोष, पाखण्ड, आदि का वर्णन उल्लेखित है।

● राज्य उत्पत्ति सम्बन्धी विचार

मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राज्य संबंधी विचार देखने को मिलते है। इसी अध्याय में राज्य की उत्पत्ति व सात्यवी सिद्धान्तों का उल्लेख है। मनु ने राज्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा मानी है व इसके साथ ही इसमे कई जगह सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त का भी आभास देखने को मिलता है। मनु स्पष्ट करता है कि राज्य की स्थापना के पूर्व मानव की स्थिति पूर्णतः कष्टपूर्ण व असहनीय थी। इस कष्ट के निवारण हेतु ईश्वर इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरुण चन्द्रमा, कुबेर आदि ने सारभूत अंश से राजा का निर्माण कार्य सम्पन्न किया। इन सभी आठ उत्कृष्ट तत्वों से मिलकर निर्मित राजा ने न केवल मानव दुखों को दूर किया वरन् उनके कल्याण को सुनिश्चित भी किया। इन आठ तत्वों से बना राजा विश्वरपक, पौषक, समृद्धिकारक तत्वो से यूक्त होता है। इन सभी वृत्तान्तों से स्पष्ट होता है कि मनु राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का पोषक है। परन्तु इसके साथ ही उसके सिद्धांत में सामाजिक समझौते के सिद्धांत की झलक भी दिखायी पडती है। राजा सर्वोच्च है, वह सभी कल्याणों का माध्यम है। "मनुस्मृति में राजा का यह दायित्व है कि वह इस भूमि पर सभी दिशाओं में शांति व्यवस्था को भली भांति कायम रख सके।

मनु के दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त व पाश्चात्य दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त में अंतर: प्रायः मनु के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त से कई अर्थों में की जा सकती है। दोनों में काफी अंतर देखने को मिलता है। पाश्चात्य विद्वानों ने दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के द्वारा राजा को पूर्णतः निरंकुश सत्ता प्रदान की है।

जबकि मनु राजा के निरंकुश सताधारी होने का पक्षधर नहीं है। मनु ने राजा को धर्म, नैतिकता के अधीन रखा है। उसने इस बात पर अधिक बल दिया कि राजा सदैव पूजा का पालन करने हेतु अग्रणी रहे व उसकी हर क्षेत्र में रक्षा करे। उसने राजा को देव अंश बताया है परन्तु इसके साथ ही उसकी योग्यता पर भी बल दिया है न कि उसके अधिकार, शक्तियों व मनमानियों पर। इस सम्बन्ध में मोरबानी का कथन है, **"राजा को समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरूद्ध व्यवहार नहीं कर सकता है। धर्म राजाओं एवं मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन की क्षमता से सीमित है।"**

सालेटोर के अनुसार, **"मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती और उसे मार भी सकती है। यदि एवं अपनी मुर्खता से जनता को सताता है।"**

मनु स्पष्ट करता है कि राजा सभी नियमों व कानूनों से बंधा होता है। वह विशेष हैं परन्तु साधारण मनुष्यों की भांति दण्ड भोगता है। उसके अनुसार यदि किसी अपराध में दण्ड एक पण है तो राजा के भंग करने पर उसे सौ पण पण्ड दिया जायेगा क्योंकि राजा अधिक विद्वान व योग्य है। इसके अतिरिक्त राजा का प्रशिक्षण, दिनचर्या उसे निरंकुशता की और अग्रसर नहीं होने देती।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दैवीय उत्पत्ति सिद्धांत अपनाये जाने के बावजूद भी मनु राजा को निरंकुश स्वेच्छाचारी व अत्याचारी न होने का संदेश देता है व उसके ऊपर कानून, नैतिकता एवं मर्यादा का नियन्त्रण सदैव होना चाहिए।,

● राजा संबंधी विचार

मनु ने राजा को अनेक राजाओं के सारभूत अंश से निर्मित हुआ बताया है। राजा ईश्वर से उत्पन्न हुआ है जिसका अपमान नहीं किया जा सकता। राजा से द्वेष रखने का अर्थ है कि स्वयं को विनाश की

ओर अग्रसर करना। "मनुस्मृति" में यह भी लिखा है कि राजा में अनेक देवताओं का प्रवेश होता है। अतः वह स्वयं एक देवता होता है। मनुस्मृति में लिखा है।

"ऐसा राजा इन्द्र अथवा विद्युत के समान एश्वर्यवकर्त्ता, पवन के समान सबके प्राणावत, प्रिय तथा हृदय की बात जानने वाला, यम के समान पक्षपात रहित न्यायधीश, सूर्य के समान न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रकाश, अग्नि के समान दूष्टों को भस्म करने वाला, वरूण के समान दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के समा श्रेष्ठ पुरुषो को आनंद देने वाला या कुबेर के समान कोष भरने वाला होना चाहिए।"

मनु ने राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का विस्तृत विवरण दिया है। वह कहता है कि राजा को प्रजा व ब्राहमणों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील रहना चाहिए। राजा को अपने इन्द्रियों पर सदैव नियन्त्रण में रखना चाहिए। उसे काम, क्रोध आदि तृष्णाओं से मुक्त रहना चाहिए। मनुस्मृति में उल्लेखित कार्यों मं राजा के लिए शिकार, जुआ, दिवाशयन, परनिन्दा, नाच–गाना सभी वर्जित है।

मनु स्मृति मे राजा हेतु कुछ मुख्य निर्देश निम्न हैं।

1. राजा स्वजातीय व सर्वगुण सम्पन्न स्त्री से ही विवाह करे।

2. राजा द्वारा समय–समय पर यज्ञ आयोजित व ब्राह्मणों को दान दिए जाने चाहिए

3. राजा शस्त्र, धन, धान्य, सैना, जल आदि से परिपूर्ण पर्वतीय दूर्ग में हर प्रकार से शत्रु से बचाव हेतु सुरक्षित निवास करे।

4. प्रजा से कर वसूली ईमानदार व योग्य कर्मचारियों के द्वारा ही सम्पन्न की जानी चाहिए। प्रजा के साथ राजा का संबंध पिता–पुत्र के संबंध के समान होना चाहिए।

5. विभिन्न राजकीय कार्यों हेतु विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

6. राजा को सदैव युद्ध हेतु तैयार रहना चाहिए। राज्य की रक्षा करने हेतु युद्ध में मृत्यु हो जाने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

7. राजा को विस्तारवादी नीति अपनानी चाहिए।

8. राजा को समय–समय पर अपने सैन्य बल, बहादूरी का प्रदर्शन करना चाहिए।

9. राजा को अपने मंत्रिमण्डल को सदैव विश्वास में रखना चाहिए

10. राजा को सदैव मृदुभाषी होना चाहिए।

11. शत्रुओं की योजनामो को समझने हेतु राजा द्वारा मजबूत गुप्तचर व्यवस्था रखनी चाहिए।

12. राजा द्वारा गोपनीय बातों को पूर्णतः गुप्त रखना चाहिए

13. राजा का सदैव सर्तकता बरतनी चाहिए।

14. राजा को राज्य की रक्षा हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए।

15. राजा को अपने कर्मचारियों व अधिकारियों के आचरण की जाँच सदैव करती रहनी चाहिए व उन्हें गलत पाए जाने पर पदच्यूत कर देना चाहिए।

मनु ने राजा की दिनचर्या का भी वर्णन किया है। उसके अनुसार राजा को सम्पूर्ण दिन को तीन भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग हेतु अलग अलग कार्य निर्धारित करने चाहिए। राजा को न्याय कार्य प्रायः स्नान व ध्यान के उपरान्त ही करने चाहिए।

राजा को राजकार्यों में निरन्तर अपने मंत्रिमण्डल व विदेशी मामलों मे अपने गुप्तचरों व राजदूतों से परामर्श लेते रहना चाहिए। मनुस्मृति में युद्ध व संकट के समय राजा के कर्तव्यों का वर्णन भी है। युद्ध के समय राजा को निर्भीकता के साथ पूरी तैयारी व मनोबल के साथ शत्रु संहार करना चाहिए। राजा का घर्म शत्रु संहार कर मातृभूमि की रक्षा करना है। मनुस्मृति में पूर्णतः स्पष्ट है कि शांति के समय राजा प्रजा के धान्य का छठा–आठवा भाग प्राप्त करे व यूद्ध के समय वह इसका मात्र चौथा भाग ही प्राप्त करे जबकि यदि आपातकाल में राजा अतिरिक्त कर लेता है तो यह पाप नहीं होगा।

● कर व्यवस्था संबंधी विचार

करारोपण के संबंध में मनुस्मृति में विस्तृत चर्चा की गयी है। मनु ने भी प्रजा के साथ पुत्र जैसे सबंधों को रखने का पक्षधर था उसके अनुसार प्रजा से राजा को थोड़ा–थोड़ा कर निरन्तर वसूल किया जाना चाहिए उसके अनुसार कर न लिए जाने से राजकोष खाली होकर कमजोर हो जायेगा परन्तु अत्यधिक दमनकारी कर नीति से प्रजा का विश्वास भी कमजोर होता है। कर का निर्धारण सदैव न्यायपूर्ण होना चाहिए ताकि जन सामान्य को समझ आए कि कर लगाने का उद्देश्य विलासिता नहीं वरन जनकल्याण है।

मनुस्मृति में कर की मात्रा का भी उल्लेख किया गया। उसके अनुसार पशु व स्वर्ण का 50वां भाग, धान्य का छठा भाग, आठवां व बारहवां भाग राजा द्वारा कर के रूप में लेना चाहिए। उसके अनुसार अत्यधिक वृद्ध, लंगडे व अंधे व्यक्तियों से कर कदापि नहीं लेना चाहिए। व कॉरीगरों, श्रमिकों, बोझा ढोने वालों से एक महीने में मात्र एक दिन के काम का कर लिया जाना चाहिए। प्रजा द्वारा कर के रूप में ली गयी साम्रगी को मनुस्मृति में बलि कहा गया। व्यापारियों से लिया जाने वाला कर शुल्क व किसी व्यक्ति से लिया गया आर्थिक दण्ड, जुर्माना कहलाया। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में संतरण कर, पशुकर, आयकर भी उल्लेखित है।

● कानुन–न्याय व दण्ड संबन्धी विचार

मनु द्वारा सदैव राजा के न्यायपूर्ण आचरण को प्रस्तुत किया गया है। न्याय ही दण्ड का एकमात्र आधार बताया गया है। मनु के अनुसार दण्ड के भय से ही जनसामान्य स्थिर रहते हैं व राजा का कर्तव्य यह है कि वह देश, काल, अपराध की गुणता आदि तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त ही अपराधियों को दण्डित करे। मनु के अनुसार राजा का शासन दण्ड के भय से ही सुचारू रूप से चलता है। यदि राजा अपराधियों को दण्ड देना बन्द कर दे तो दुर्बल लोग, बलवान व्यक्तियों के हाथों इसी प्रकार कुचले जाएगे जिस भांति मछलियों को लोहे की छड में छेदकर पकाया जाता है। राजा का कर्तव्य राज्य में न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था करना है। राजा को सदैव तत्पर रहते हुए कुल, जाति, गण व जनपद आदि सब जगह यथोचित दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिए। मनु ने दण्ड के चार प्रकार प्रस्तुत किए है।

1. घिग्दण्ड 2. वाग्दण्ड 3. धनदण्ड 4. वधदण्ड

मनु ने दण्ड की महत्ता को समझा है उसके अनुसार दण्ड के अभाव में राज्य एकक्षण भी सुचारू रूप से नहीं चल सकता। मनु दण्ड को सामाजिक जीवन का आधार मानते हुए उसके महत्व को निम्न तर्कों में प्रस्तुत करता है।

1. दण्ड सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान है।

2. दण्ड राज्य की संपति की रक्षा व वृद्धि हेतु अनिवार्य घटक है।

3. दण्ड सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करने हेतु बाधक है।

4. दण्ड सभी मनुष्यों का रक्षक है। जिस कारण सभी मनुष्यों द्वारा उसका पालन किया जाता है।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में दण्ड संबंधी विचारों को ही सम्प्रभुता का आधार माना गया।

कानून व्यवस्था

मनु ने कानून निर्माण हेतु परिषद अथवा विधायिका का उल्लेख किया है। उसके अनुसार परिषद का निर्धारण संख्या के आधार पर न होकर बौद्धिक क्षमता के आधार पर होना चाहिए। उसके अनुसार परिषद में दस सदस्य हो जिनमें तीन वेद के ज्ञाता, एक निर्वक्ता, एक भीमासांकर, एक निसक्त, एक धर्मशास्त्र कहने वाला व तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के हो। मनु इसके अतिरिक्त यह भी कहता है कि यदि ऐसे दस व्यक्ति न मिलें तो योग्य वेदों के जानकार तीन व्यक्ति ही परिषद हेतु प्रयुक्त है।

न्याय संबंधी व्यवस्था : मनु ने न्याय व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किया है। उसके अनुसार मुख्यतः दो प्रकार के वाद देखने को मिलते है–हिंसा के कारण उत्पन्न व घन संबंधी विवाद, जिनका निदान राजा द्वारा स्वयं किया जाना चाहिए व यदि स्वयं इन विवादों का हल करने में असमर्थ महसूस करे तो इसके हेतू योग्य ब्राह्मण नियुक्त किया जाए व जितने भी विवाद आए सभी का निवारण पूर्ण निष्पक्षता से हो। उसके अनुसार न्याय का दायित्व शूद्रों को कदापि नहीं देना चाहिए व न्यायधीशों के अन्दर शारीरिक भाषा, मुख संकेत व मनोविज्ञान को समझने की क्षमता होनी चाहिए। सभा के न्यायधीश को सत्य की रक्षा हेतु सदैव दृढ़ प्रतिज्ञ रहना चाहिए।

मनु के अनुसार प्रमाण दो भागों में विभक्त है।

मानुष प्रमाण	दिव्य प्रमाण
मानुष प्रमाण को भी मनु ने तीन भागों लिखित, यूक्ति व साक्ष्य में विभक्त किया है। वह लिखित प्रमाण को अधिक महत्वपूर्ण समझता है। परन्तु इसके साथ यह भी स्पष्ट करता है कि लिखित प्रमाण बलपूर्वक तैयार न किया जाए। मनु की मान्यतानुसार झुठ बोलने वाला सेवक, शत्रु, संयासी किसी पर भी विश्वास नहीं किया जाना चाहिए। साक्ष्य से पूर्व भी शपथ का कानून रखना चाहिए व गवाह के रूप में ब्राह्मण गवाह को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। मनु ने युक्ति प्रमाण के संबंध में भी समझाया कि यदि किसी व्यक्ति की किसी चीज को कोई दस वर्ष से अधिक समय तक उपयोग कर लेता है तो वह वस्तु उसी व्यक्ति की हो जायेगी। परन्तु इस संबंध में विषय किसी बालक अथवा पागल व्यक्ति का कदापि न हो।	दिव्य प्रमाण के अन्तर्गत शपथ लेने, जल में डूबना, जलती अग्नि को ग्रहण करना आदि तथ्यों को सम्मिलित किया गया। यह प्रमाण मानुष प्रमाणों की विफलता के पश्चात ही प्रासंगिक होते है। मनुस्मृति में न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था भी की गयी है जिसके अनुसार यदि राजा को न्याय गलत हो जाने की आशंका हो तो वह विवाद का पूनः अवलोकन भी करवा सकता है।

● विधायिका (परिषद) संबंधी विचार

मनु द्वारा कार्यपालिका के साथ ही विधायिका (परिषद) का भी उल्लेख किया गया है। परिषद का अर्थ विधायिका से ही ग्रहण किया गया है। उसके अनुसार परिषद में तीन से दस तक सदस्य हो जिनमें तीन वेदों के ज्ञाता हो तथा जिनमें वेदों की जानकारी के साथ राष्ट्रीय नीतियों को क्रियान्वित की क्षमता भी हो। मोरवानी इस सम्बन्ध में कहता है, **"परिषद ऐसे विद्वान व्यक्तियों से मिलकर बननी चाहिए जिन्होंने वेदों टीकाओं का अध्ययन किया हो जो अपने तर्कों के संबंध मे प्रमाण देने में सक्षम हों।"**

मनुस्मृति में इसी के साथ कुल, जाति, श्रेणी व जनपद नामक संघीय संस्था का उल्लेख भी देखने को मिलता है।

● प्रादेशिक प्रशासन संबंधी विचार

मनु ने अपनी पुस्तक मनुस्मृति में प्रशासनिक व्यवस्था सम्बन्धी निर्देश प्रस्तुत किये है। मनु के अनुसार राजा दो, तीन, पाँच व सौ गांवों के बीच अपना राज स्थान स्थापित कर वहाँ शान्ति व्यवस्था बनाये रखने हेतु योग्य कर्मचारी नियुक्त करे। मनु ने राज्य को क्षेत्र आधार पर पुर एवं राष्ट्र में विभाजित किया है। जहाँ पुर से अभिप्राय चारों ओर से सुरक्षित सुविधाओं से पूर्ण व स्वस्थ भूभाग में बसी राजधानी से है। शासन को व्यवस्थित रूप से संचालित करने हेतु राष्ट्र को छोटी–बड़ी अनेक बस्तियों में विभाजित किया जाना चाहिए। मनुस्मृति में एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम व एक हजार ग्रामों की अलग–अलग संगठनों के रूप में व्यवस्था है। शासन की सबसे छोटी ईकाई ग्राम है जिसके अधिकारी को ग्रमिक कहा गया व जिसका मख्य कार्य ग्राम में शान्ति व्यवस्था बनाए रखना है। ग्रामिक को ही ग्रामों से राजस्व एकत्र कर दस ग्रामों के अधिकारी के पास भेजना होता है। जिसका अधिकारी दशग्रामपति के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार बीस ग्राम के अधिकारी को विशंती, सौ ग्राम के अधिकारी को शती व एक हजार ग्राम के पति को सहस्त्रपति कहलाए व इन सभी अधिकारियों से ऊपर एक उच्च अधिकारी नियुक्त होता था जो इनके कार्यों का निरीक्षण करता था। इसी के साथ इन अधिकारियों के वेतन का वर्णन भी मनुस्मृति में किया गया है। ग्रामों के अतिरिक्त नगरों में भी प्रशासन व्यवस्था की गई जिसमें नगर अधिकारी को स्वार्थ चिन्तक कहकर सम्बोधित किया गया है।

● विदेशनीति संबंधी विचार

मनु द्वारा बतायी गयी विदेशनीति मुख्यतः दो सिद्धान्तों पर आधारित थी।

(i) मण्डल सिद्धान्त

(ii) षाडगुण्य नीति

1. मण्डल सिद्धान्त: इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राजा को महत्वाकांक्षी होना बताया गया है उसे निरन्तर अपनी सीमाओं के विस्तार में सोचना चाहिए जिसके लिए उसे मण्डल सिद्धान्त का अनुपालन करना चाहिर जित्यका केन्द्र बिन्दु होता है–**"विजीली राजा"**।

मनुस्मृति में राजमण्डल की चाल मूल प्रकृतियों का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। उसके अनुसार मध्यम राजा वह है जो विजिगीषु राजा की सीमा के पास रहकर उसके व उसके विरोधियों में संधि होने पर अनुग्रह करने में व विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो तथा मनु के अनुसार उदासीन राजा वह

है जो विजिगीषु व मध्यम राजाओं के मध्य एकमत होने पर अनुग्रह करने तथा विरोध करने पर निग्रह करने में समर्थ हो। मनु ने शत्रु राजा के तीन प्रकार स्पष्ट किए है जो निम्न हैं सहज शत्रु, कृत्रिम शत्रु तथा राज्य की भूमि के पार्श्ववर्ती शत्रु।

मनु के अनुसार विजिगीषु राजा को शत्रु राजाओं से अलग–अलग या मिलकर साम, दाम, दण्ड व भेद से उन्हें अपने वश में करना चाहिए अथवा अपने शत्रुओं की कमियों का पता लगाकर गोपनीय रूप से उनके विपरीत यूद्ध की तैयारी में सदैव रहना चाहिए।

2. षाडगुण्य नीति : मनु द्वारा षाडगुण्य नीति का प्रावधान आपातकाल स्थिति हेतु किया गया था। उसके अनुसार राजा द्वारा छह नीतियों का पालन करते हुए अपनी राज्य की रक्षा के साथ–साथ सीमाओं का विस्तार भी करना चाहिए। मनु द्वारा बतायी गयी छह नीतियाँ निम्न है।

(i) संधि

(ii) विग्रह

(iii) आसन

(iv) यान

(v) सश्रय

(vi) द्वैधीभाव

राजा द्वारा उपर्युक्त वर्णित छह नीतियों का पालन परिस्थिति अनुसार किया जाना चाहिए। उसे सभी ऐसे उपक्रमों को अपनाना चाहिए जिससे मध्यम व उदासीन शत्रु राजाओं की संख्या न बढे। इनकी संख्या बढने से मित्र के शत्रु बनने की संभावना में वृद्धि होती है। मनु के शब्दों में, **"राजा को साम, दाम, दण्ड भेद की नीति का प्रयोग कर अपने राज्य का विस्तार करना चाहिए। इस कार्य हेतु यूद्ध को अंतिम विकल्प के रूप में प्रयोग में लाना चाहिए।"**

मनु के अनुसार सामान्य काल में राजा से अपक्षा यह है कि वह कूटनीति के द्वारा हित संवर्धन करे। मनु यह भी स्पष्ट करता है कि विजेय राजा द्वारा पराजित राजा के साथ व्यवहार मानवीय ढंग से किया जाना चाहिए। विजेता राजा द्वारा पराजित लोगों के रीति रिवाज, मर्यादाओं व परम्पराओं का पूर्णतः सम्मान होना चाहिए व यदि अपराजित राजाओं मे कोई विशेष योग्यता वाला व्यक्ति दिखायी दे तो उसे संधि कर मित्र बनाने के उपरान्त पुनः वहाँ का राजा नियुक्त कर देना चाहिए।

● शासन संबंधी विचार

मनु के अनुसार शासन का मुख्य उद्देशय धर्म, अर्थ व काम की प्राप्ति हेतु सहायक तत्व होना है। अतः राजा को अपने सहयोगियों के माध्यम से इस उद्देशय की पूर्ति हेतु सदैव प्रत्यनशील होना चाहिए। मनु कहता है कि राजा को नये लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास व प्राप्त हुए राज्य को सुरक्षित रखने का भी प्रयास करना चाहिए। राजकोष में से समाज के कमजोर व सुपात्र व्यक्तियों को दान दिया जाना चाहिए व राजा को अपनी प्रजा को अपने पुत्र के समान समझना चाहिए परन्तु यदि राष्ट्रहित पर कोई बात आए तो उसे कठोर निर्णय लेने से पीछे हटना नहीं चाहिए। राजा को न्यायी, सिद्धांतप्रिय व मातृभूमि से प्रेम करने वाला बनना चाहिए।

● मनु और कौटिल्य के बीच तुलना

मनु और कौटिल्य प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक माने गए थे। उनके विचारों में अनेक बिन्दुओं पर समानता तथा अनेक बिन्दुओं पर असमानता भी दिखायी पड़ती है। दोनों ही विद्वान प्राचीन भारतीय परम्पराओं रीतियों एवं वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। दोनों ही ब्राहमणों को ऊंचा स्थान एवं कम सजा का प्रावधान की व्यवस्था करते है। कौटिल्य सृष्टि के सृजन के सम्बन्ध में स्पष्ट मत नहीं रखता परन्तु मनु का मत है कि ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की उत्पति उनकी भुजाओं से, वैश्यों की उत्पति उनके पेट से सम्पन्न हुई है। दोनों मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष मानते है। दोनों ही दण्ड नीति को स्वीकारते हैं। मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है। राज्य की उत्पति के संबंध में दोनों के विचार समान है। मन दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को तो मानता है। परन्तु उसमें समझौते की झलक मिलती है। कौटिल्य भी उत्पति के संबंध में समझौतावादी सिद्धान्त स्वीकार करता है। दोनों ही सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory), को स्वीकार करते हुए राज्य रूपी शरीर के सात अंश बताये है। इनमें स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड व मित्र प्रमुख स्थान रखते हैं। दोनों ही राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन माना है। वे राज्य को सर्व सत्ताधारी बताते है। दोनों की राज्य का समान लक्ष्य मानते हैं। दोनों ने प्रशासन में मंत्रियों की भूमिका को स्वीकार किया है। मंत्रियों की योग्यता के संबंध में दोनों के विचार समान है। कौटिल्य ने राजनीतिक व्यवस्था पर अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में व्यापक व्याख्या की परन्तु मनु ने इतनी व्यापक व्याख्या नहीं की। दोनों ने दण्ड व्यवस्था में ब्राहमणों को कम दण्ड देने की वकालत की है। कर व्यवस्था पर दोनों के विचार समान है। वे कर जन कल्याण के लिये लगाने पर बल देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों अथवा विदेश नीति के संचालन में दोनों ही षाड्गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

● छात्र क्रियाकलाप

1. मनु के राजनैतिक विचारों पर एक निबन्ध लिखिये।

____

____

____

____

2. मनु के विदेश नीति संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

____

____

____

____

3. मनु के राजनैतिक विचारों का वर्तमान में प्रासगिकता स्पष्ट करते हुए एक निबंध लिखिये।

____

____

____

____

4. मनु के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

● सारांश

- मनु प्राचीन भारतीय चिन्तन के मुख्य विचारक है। उन्होंने अपनी कृति **"मनु स्मृति"** में राजनीतिक विचारों को अत्यंत गहनता से प्रस्तुत किया है।
- मनु ने राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को ग्रहण किया। उनका दैवीय उत्पति का सिद्धान्त में समझौतावादी तत्व मिलते हैं।
- मनु ने राजतन्त्र का समर्थन किया परन्तु उनका शासक नियन्त्रणविहीन न होकर संयमित है। उसने अपने शासक से आशा की है कि वह कानूनों का पालन करे तथा रीतियों एंव परम्पराओं से संयमित है।
- राज्य के संबंध में मनु राज्य रूपी शरीर की बात स्वीकारता है। वह राज्य के सात अंगों का साप्तांग सिद्धान्त भी देता है। मनु ने सात अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है।
- प्रशासन को मनु ने कई भागों में बांटा है। मनु दण्ड एवं न्याय की व्यवस्था का भी वर्णन करता है। उसका दण्ड संबंधी सिद्धान्त बहुत व्यावहारिक एवं यर्थातवादी था।
- न्याय संबंधी विचार बहुत व्यापक थे जिसमें न्याय के विभिन्न पहलूओं का व्यापक वर्णन किया गया था।
- मनु ने विदेश नीति के संचालन में मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति को स्थान प्रदान किया है। इसमें विभिन्न परिस्थितियों में राजा द्वारा अलग–अलग नीतियां अपनाने पर भी बल दिया गया है।

● अभ्यास प्रश्न

1. मनु की रचना का विस्तृत वर्णन कीजिए?
2. मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पति का सिद्धान्त क्या है?
3. मनु किस प्रकार की शासन प्रणाली का समर्थक था?
4. मनु द्वारा प्रतिपादित षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त किस से सम्बन्धित है?

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. मनुस्मृति मुख्यतया सम्बन्धित है –

   (अ) समाज व्यवस्था से　　(ब) कानून से

   (स) राज्य कार्य पद्धति से　　(द) अर्थशास्त्र से

2. मनुस्मृति किस धर्म का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है –

   (अ) जैव　　(ब) शैव

   (स) हिन्दु　　(द) ईसाई

3. पुराणों में कितने मनु का उल्लेख है?

(अ) 11 (ब) 5

(स) 9 (द) 14

4. मनुस्मृति में कितने अध्याय हैं?

(अ) 4 (ब) 6

(स) 12 (द) 14

5. मनुस्मृति में किस अध्याय में राजधर्म का प्रतिपादन है?

(अ) तीसरे अध्याय (ब) पाँचवे अध्याय

(स) दूसरे अध्याय (द) साँतवे अध्याय

6. किस ग्रंथ में मनु को मानव सृष्टि का प्रवर्तक कहा गया है?

(अ) तैतृय संहीता (ब) राजस्व संहीता

(स) आचार संहीता (द) चरक संहीता

7. मनुस्मृति में राज्य के किस उत्पत्ति के सिद्धांत में विश्वास करते है?

(अ) राजा के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत में

(ब) राजा के क्षत्रीय उत्पत्ति के सिद्धांत में

(स) राजा के सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांत में

(द) राजा के कार्य पद्धति के सिद्धांत में

8. मनुस्मृति में विशेष रूप से आपातकाल में किस नीति को अपनाने पर बल दिया गया है?

(अ) साम नीति (ब) षागुण नीति

(स) दाम नीति (द) दण्ड नीति

उत्तरमाला

1. (ब) 2. (स) 3. (द) 4. (स) 5. (अ)

6. (अ) 7. (अ) 8. (ब)

❑❑❑

6

कौटिल्य
(KAUTILYA)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- जीवन परिचय
- राजनीतिक व्यवस्था
- राज्य संबंधी विचार
- शासक संबंधी विचार
- सप्तांग सिद्धांत
- षाड्गुण्य नीति
- कानून संबंधी विचार
- न्याय संबंधी विचार
- दंड संबंधी विचार
- गुप्तचर संबंधी विचार
- युद्ध संबंधी विचार
- दूत व्यवस्था
- मंत्री परिषद अथवा अमर्त्य संबंधी विचार
- प्रशासनिक व्यवस्था
- मंडल सिद्धांत
- कौटिल्य का अर्थशास्त्र
- कौटिल्य के राज्य दर्शन की समीक्षा
- कौटिल्य एवं मैक्यावली
- कौटिल्य एवं यूनानी विचारक
    - सारांश
    - अभ्यास प्रश्न
    - बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त योग्य होगे:

- कौटिल्य के विचारों के माध्यम से भारत के राजनीतिक एकीकरण को
- कौटिल्य के विभिन्न सिद्धांतों को
- कौटिल्य व अन्य विचारकों में तुलना को

● प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक कौटिल्य का नाम अर्थशास्त्र के लेखक के रूप में विश्व विख्यात है। उसके द्वारा लिखित 'अर्थशास्त्र' ग्रंथ अन्य पुरुष शैली में लिखा गया था। इसमें कौटिल्य के अतिरिक्त उसे विष्णुगुप्त का नाम भी प्रदान किया गया है। हितोपदेश के रचयिता आचार्य विष्णुगुप्त व अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य कौटिल्य के बारे में यह स्वीकृत है कि यह दोनों एक ही थे। हितोपदेश भी राजनीति पर लिखा हुआ एक श्रम है जिसे बालकों की शिक्षा के उद्देश्य से पशु पक्षियों की कहानियों की शैली में लिखा गया था। इन कहानियों के माध्यम से जिन सिद्धांतों का विवेचन किया गया है वे अत्यंत व्यावहारिकतापूर्ण एवं दूरदर्शिता पूर्ण प्रस्तुत होते हैं। कौटिल्य का तीसरा नाम चाणक्य भी है जो कि चंद्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री का नाम था। विशाखादत्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ मुद्राराक्षस में चाणक्य को विष्णुगुप्त के नाम से भी पुकारा है जिससे यह संकेत प्राप्त हुआ कि तीनों एक ही व्यक्ति के नाम के है। राजनीतिक शास्त्र के सम्यक ज्ञान के लिए चाणक्य के राजनीति शास्त्र को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। साधारण ब्राह्मण परिवार में जन्म के बावजूद भी कौटिल्य की योग्यता क्षमता अदभुत थी। उन्होंने अपनी दूर दृष्टि से नंद वंश के भारतीय जनमानस को मुक्त कराया व उसके साथी चंद्रगुप्त मौर्य को शासक के पद पर आसीन कराकर भारतीय राजनीतिक एकीकरण के द्वारा एक सशक्त राजनीति की स्थापना भी की। कौटिल्य का भारतीय दर्शन में एक महत्वपूर्ण स्थान है अर्थशास्त्र के द्वारा शासन संचालन, राजा के अधिकार कर्तव्यों का व्यापक चित्रण बहुत अनूठे रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसने प्रजा हित के लिए राजा को कठोर परिश्रम व कठोर नियम बनाने की स्वीकृति प्रदान की है। वह प्राचीन भारत का संभवत: ऐसा पहला विद्वान था जिसे राजनीतिक सिद्धांतों का वर्णन किया तथा उन्हें आधुनिक समाज में भी अपनाया गया। कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत मंडल सिद्धांत राजनीति शास्त्र में उसकी अमूल्य देन मानी जाती है।

● जीवन परिचय

कौटिल्य का पूरा नाम विष्णु गुप्त कौटिल्य माना गया है परंतु विद्वानों में कौटिल्य के नाम को लेकर अनेक मतभेद भी है भारत के महानतम कूटनीतिज्ञ कौटिल्य के जीवन के संबंध में प्रमाणिक सामग्रियों का पूर्णतया अभाव दिखाई देता है। उनके बहिर्मुखी व्यक्तित्व के समान ही उनके अनेक नाम भी इतिहास में प्रसिद्ध रहे। जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं – विष्णुगुप्त, कौटिल्य और चाणक्य। चाणक्य का वास्तविक नाम विष्णु गुप्त था। उसे कौटिल्य इसलिए कहा गया कि उसका जन्म कुटि नामक ब्राह्मण वंश में हुआ था। उसके पिता का नाम चाणक्य था इसलिए उसे चाणक्य भी कहा जाता है। कौटिल्य मौर्य साम्राज्य की आधारशिला रखने वाले चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन था। हिंदी के कवि तुलसीदास व सूरदास की तरह इनकी जन्म स्थान के विषय में भी मतभेद दिखाई पड़ता है। जैन ग्रंथों के अनुसार उनकी जन्मभूमि मैसूर राज्य का श्रवणबेलगोला प्रदेश माना गया है। इसके अलावा कुछ विद्वान इनका जन्म स्थान नेपाल का

तराई प्रदेश भी मानते हैं। इनके जन्म के विषय में कुछ भी स्पष्ट कहना संभव नहीं है। इनकी शिक्षा–दीक्षा नालंदा विश्वविद्यालय में संपन्न हुई तथा उत्तरी राज्यों का केंद्र था और वहां के अंतिम शासक महापदानन्द था। एक कथानुसार इसके प्रधानमंत्री सकटार चाणक्य से नाराज थे। राजा ने एक दिन कुछ ब्राह्मणों को नियंत्रण देने का कार्य सकटार को सौंपा। सकटार द्वारा चाणक्य को भी निमंत्रण दिया गया व उसे सबसे ऊंचा आसन दिया गया। कौटिल्य के रंग के कारण महा–पदानंद द्वारा उसका अपमान किया गया तो उसने नंद वंश के नाश करने की शपथ ली व इसमें सफल होने के पश्चात मगध में मौर्य वंश की स्थापना हुई। सिकंदर के चले जाने के पश्चात कौटिल्य द्वारा पंजाब के राजाओं सेनानियों को भी देश से बाहर निकाल दिया गया। कौटिल्य ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा मौर्य वंश को अत्यतधिक ऊंचाईयों तक पहुंचाया व इसके साथ ही उसके द्वारा भारतीय राजनीति को विश्व के समक्ष एक नई छवि प्रस्तुत की।

● राजनीतिक व्यवस्था

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान की परिभाषा व उसके अध्ययन क्षेत्र विवेचन पूर्णतः आधुनिक, व्यवहारवादी, राजनीतिक वैज्ञानिक से ओतप्रोत है। राजनीतिक संस्थाएं उनसे संबंधित मनुष्य के क्रियाकलापों तक ही सीमित मानी गयी है। परंतु चाणक्य कालीन युग में राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ उस व्यवस्था से था जिसमें राजनीति राज्य सरकार तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं में राजनीतिक पत्रिकाओं आदि से संबंधित गतिविधियां सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक नैतिक आदि गतिविधियां में एक दूसरे से प्रभावित व संचालित हो। व्यवहारवादियों द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक विज्ञान संबंधी धारणा में व्यापक परिवेश से संबंधित विभिन्न अंगों के रूप में विद्यमान के अनेक संगठनों के माध्यम से व्यक्ति की गतिविधियां सुचारू रूप से चालित होती है। राज्य सरकार के क्षेत्र के रूप में यह निश्चित होता है उसे समष्टि रूप से राजनीतिक व्यवस्था ही कहा जाता है।

राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

राजनीतिक व्यवस्था से अभिप्राय उसकी परिधि के अंतर्गत आने वाले संगठनों से है। इस विषय में अनेक विचारकों ने भिन्न–भिन्न मत प्रस्तुत किए। पिनॉक तथा स्मिथ ने इस विषय में लिखा है कि **"राज्य राजनीतिक व्यवस्था या राजव्यवस्था नामक बड़े संगठन का एक अंग है राजनीतिक व्यवस्था समाज की एक उप–व्यवस्था या उसका एक पहलू है इसमें किसी समाज विशेष के सब सदस्य सम्मिलित होते हैं पर उनके सभी पारस्परिक संबंध है उनके आचरण को प्रभावित करने वाले सभी तत्व इसमें सम्मिलित नहीं होते।"** डेविड ईस्टन द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को दो भागों में विभाजित किया गया है कहते हैं कि **"समूह संगठनों की आंतरिक राजनीति व्यवस्थाओं को राजनीतिक व्यवस्थाएं कहूंगा और राजनीतिक व्यवस्था की धारणा को विश्लेषण किए जाने वाले समाज में समाहित राजनीतिक जीवन की सबसे अधिक समावेशी का इकाई राज्य के लिए सुरक्षित रख लूंगा।"** वह कहते हैं कि **"राजनीतिक व्यवस्था का निर्धारण इस आधार पर होता है कि कौन शासन करता है, किस रूप में शासन करता है और किस उद्देश्य से शासन करता है।"** इसके अलावा आमण्ड व कौलमैन द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में निम्न शब्दों द्वारा अपने विचार प्रस्तुत किए गए **"राजनीतिक व्यवस्था समाज में व्यवस्था बनाए रखने वाली अथवा परिवर्तन लाने वाली है।"** राजनीतिक व्यवस्था को विभिन्न ढंग से परिभाषित किया गया है उनके द्वारा कहा गया कि राजनीतिक व्यवस्था स्पष्ट रूप से पहचानी जाने योग्य उन इकाइयों की समष्टि होती है जो परस्पर अभिन्न होते हुये

भी सुसम्बद्ध होती है। अतः राजनीतिक व्यवस्था के विषय में भिन्न भिन्न विचारकों के विचारों को देखा जाए तो मात्र यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था से तात्पर्य राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत विभिन्न समुदायों से होता है जो राजनीतिक रूप से भाग लेते हुए प्रतीत होते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप तथा क्षेत्र

राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप व क्षेत्र वस्तुतः सदैव एक जैसा नहीं रहा। यह प्राचीन भारतीय राजनीति के समय कुछ और था व मध्यकालीन राजनीति के समय कुछ और। व आधुनिक राजनीति के संबंध में तो समाज में राजकार्य में जनता का एक भाग ही सक्रिय रहता है। तत्कालीन समय में जनता की गतिविधियां राजनीतिक व्यवस्था को पूर्णतः प्रभावित करती थी तथा राज्य की राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन होने के लिए यही वर्ग उत्तरदायी होता था। यही वर्ग राष्ट्र निर्माण में अत्यंत सहायक होता था तथा राजनीति को यदि समझा जाए तो इसका सीधा संबंध आर्थिक व सामाजिक आदि क्रियाकलापों से नहीं दिखाई पडता वह राज्य के समाजवादी रूप की अवधारणा के विकास के साथ राजनीति व राजनीतिक व्यवस्था के रूप में क्षेत्र संबंधी धारणा में परिवर्तन को दर्शाता है। राजनीति का क्षेत्र उस समय इतना व्यापक हो गया था कि उसका वर्णन करना पूर्णतः असम्भव प्रतीत होता है। उस समय समस्त राज्य विभिन्न संगठनों में विभक्त था जो किसी न किसी प्रकारा से राजनीति में भागीदारिता केवल उसी सीमा तक राजनीति में थी, जिस सीमा तक उनके कार्यों के प्रभाव का सम्बन्ध राजनीति से होता था।

☛ **विशेष**

राजनीतिक व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था में तुलनात्मक अध्ययन

- राजनीतिक व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था एक दूसरे से प्रभावित होते हुए भी एक दूसरे से अलग अलग हैं उदाहरण स्वरूप समाज में विद्यमान अनेक संबंध जैसे विवाह आदि जिनका रूप पूर्णतया व्यवहारिक होता है परंतु जब उन संबंधों के विषय में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उनका नियमन राज्य द्वारा किया जाना ही आवश्यक हो तो उनका रूप राजनीतिक हो जाता है तथा उनमें राजनीतिक व्यवस्था को अपनाया जाता है जिससे वह पूर्ण तह राजनीति का अंग बन जाते हैं अतः सामाजिक व्यवस्थाओं में अनेक ऐसी प्रथा विद्यमान है जिनके अनुसार राज्य को अपनी व्यवस्था बनानी पड़ती है।

राजनीतिक व्यवस्था तथा आर्थिक व्यवस्था में तुलनात्मक अध्ययन

- राजनीतिक व्यवस्था व आर्थिक व्यवस्था का संबंध भी पारस्परिक संबद्धता व भिन्नता दोनों राजनीतिक व्यवस्था बहुत हद तक समाज की आर्थिक व्यवस्था का नियमन करती हुई दिखाई देती है। जब व्यवस्था के कार्यों का नियमन राज्य द्वारा किया जाना आवश्यक हो जाए वह उसी हद राजनीतिक व्यवस्था के अंग में ढल जाता है उदाहरण स्वरूप श्रमिक अपने कारखानों के मालिक का कार्य करते हैं व मालिक उनके लिए वेतन भत्ते आदि की व्यवस्था करते है जब तक यह कार्य उन दोनों के बीच तक ही सीमित रहता है तो उसका राजनीतिक व राजनीतिक व्यवस्था से कोई भी संबंध नहीं होता परंतु जब यही श्रमिक संगठन मालिक से अपनी मांगों को मनवाने के लिए आंदोलन या हड़ताल प्रारंभ कर देते हैं तो उनका यह कार्य राजनीतिक हो जाता है। वह राज्य द्वारा उसके नियमन की आवश्यकता स्पष्ट हो जाने के कारण ही श्रमिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था के अंग बन जाते हैं।

राज्य की उत्पत्ति

कौटिल्य ने राज्य उत्पत्ति सिद्धांत अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में दिया है उसके अनुसार संसार में अराजकता विद्यमान रहने की स्थिति में भयंकर दुख व निरंतर असुरक्षा की भावना से पीड़ित होकर जन समुदाय ने मनु के समक्ष उपस्थित होकर अपने राजपद को धारण करने एवं संप्रभु शक्ति के प्रयोग के माध्यम से प्रजा के आवरण को नियंत्रण व नियमित करने की निरंतर प्रार्थना की, जिस कारणवश मनु ने उन्हें आश्वासन दिया तथा इसके प्रतिफल के रूप में जनता शासन के प्रति सदैव आज्ञाकारिता का भाव धारण करेंगी तथा निश्चित सिद्धांतों के अनुसार अपनी आय और अर्जित संपदा से निश्चित भाग कर के रूप में राजा को प्रदान कर अपने राजकीय दायित्वों का पूर्ण पालन करेगी। उपर्युक्त आदि विवरण से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य राज्य को एक प्राकृतिक संस्था, अर्थात दैवीय उत्पत्ति का परिमाण नहीं मानता है राज्य उत्पत्ति के विषय में दो तथ्य अन्तर्निहिति करता है।

1. राज्य मानवीय प्रयत्नों का परिणाम है जो, मनुष्य स्वयं राज्य की सुरक्षा और कल्याण के लिए स्वीकार करता है।

2. लोगों द्वारा राज्य के बाह्यकारी नियंत्रण को अपनी सुरक्षा व कल्याण के हित में स्वीकार करने का प्रस्ताव तथा मनु द्वारा प्रथम शासक के रूप में एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के परिणाम स्वरुप राज्य की उत्पत्ति हुई है।

स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने अनुबंधवादी विचारकों (हॉब्स व रूसो) राज्य को अनुबंध का परिणाम कहा है। व राज्य से पूर्व की अवस्था का चित्रण प्रस्तुत किया। उसका चित्र हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से मिलता–जुलता दिखाई देता है। कौटिल्य ने यह स्वीकार नहीं किया कि उस अवस्था में समाज का भी अस्तित्व नहीं था। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में समाज में उचित मापदंडों का भी अस्तित्व होने का परिणाम यह होता है कि समाज की उत्पत्ति भी उसी समझौते द्वारा हुई जिसके द्वारा राज्य उत्पन्न हुआ परंतु इस प्रकार राज्य अपने अस्तित्व में आने से पूर्व ही विद्यमान किन्हीं मापदण्डों को लागू करने के लिए कदापि उत्पन्न नहीं हुआ। इस प्रकार के अनुसार राज्य की राज्य के बिना कोई मापदंड ही नहीं संभव हो सकता तथा इसके विपरीत कौटिल्य प्रतिपादित किया कि राज्य धर्म के द्वारा प्रजा के व्यवहार को नियंत्रित करता है। राजकीय शक्ति के प्रजा पर प्रयोग की स्वाभाविक मर्यादा है। राज्य के एक संस्था के रूप में उत्पन्न होने से पहले भी धर्म नैतिक मूल्यों और चित्र के मापदंडों में मानवीय आचरण के उपयोग के सिद्धांतों के रूप में अस्तित्व दिखाई पड़ता है। उस समय केवल यह माना जाता था कि धर्म को लागू करने वाली कोई संस्था ही नहीं थी। इस स्थिति के कारण मत्स्य न्याय प्रचलित हो गया था। तथा धर्म बल की अपेक्षा, भौतिक अवलंबन प्रदान कर दिया जाता था जिससे दूष्ट आततयी व समाज कंटक चुनौती नही दे सकते। कौटिल्य अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में यह स्पष्ट करता है कि राजा जनकल्याण के लिए कार्य करेगा।

राज्य का स्वरूप

राज्य के स्वरूप के संबंध में कौटिल्य के विचार साव्ययी विचारधारा को प्रदर्शित करते हैं। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि राज्य सात अंगों से मिलकर बना है जो उसकी उसके लिए आवश्यक अंग है। कौटिल्य के साव्ययी विचारों से पूर्व की भारतीय चिंतन में भी इसकी झलक देखने को मिलती है। ऋग्वेद

में जहां यह दिखाई पड़ता है उसी के साथ यजुर्वेद में भी आ गया है कि विराट पुरुष की पीठ राष्ट्र है व उसकी उदर पीठ, जांघ एवं घुटने आदि उसकी प्रजा है। कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत सावयवी सिद्धांत पूर्णतः स्पष्ट व मौलिक हैं। इसका उत्तर ऋग्वेद के पुरुष में भी प्राप्त होता है। कौटिल्य ने अपने सात अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्व दिया है। उसके मंत्री उसे परामर्श देते हैं वह उनका स्थान निश्चित किया है इन्हीं की सहायता से राज्य का संचालन संभव हो पाता है तथा दुर्ग राज्य आदि को उसने राज्य का सुरक्षा कवच बताया है। जनपद अथवा भूभाग राज्य के अस्तित्व का भौतिक आधार माना गया है। तथा जन कल्याण हेतु भरा हुआ कोष भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दंड भी राज्य का एक आवश्यक अंग है क्योंकि बिना भय के राज्य में कानून व्यवस्था को सुनिश्चित कराना असंभव हो जाता है। उसके अनुसार राज्य को व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायता प्रदान करनी चाहिए व उसके परम उद्देश्य को पाने के लिए राज्य को सभी आवश्यक कार्य करने चाहिए। राज्य के द्वारा नागरिकों में देशभक्ति व कर्तव्य परायणता आदि के भी प्रयास निरंतर रखने चाहिए। राज्य द्वारा जन कल्याण के कार्य किए जाएं। इसी के साथ कौटिल्य नागरिक सुरक्षा जनकल्याण को भी परम आवश्यक मानता है तथा विदेशी रास्तों पर भी पैनी नजर रखने की वकालत करता है।

कौटिल्य के अनुसार राज्य के कार्य

कौटिल्य लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करता है। उसने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में राज्य के कार्य क्षेत्र का अत्यंत विस्तृत रूप से वर्णन किया है तथा प्रजा की भौतिक सुरक्षा व्यवस्था अलौकिक लोक कल्याण के लिए विभिन्न गतिविधियों को संपन्न करने को राज्य के आवश्यक कार्यों में पूर्ण तह सम्मिलित करता है। उसके द्वारा परिभाषित राज्य के कार्य क्षेत्र के विभिन्न पक्षों को निम्न रूप से वर्गीकृत किया गया है–

1. प्रजा रक्षण : कौटिल्य द्वारा राज्य के प्रथम दायित्व में प्रजा की सुरक्षा को स्वीकृत किया गया है। उसका मत है कि राज्य के अस्तित्व के अभाव में प्रजा पूर्णतय अशांति व असुरक्षा की आशंका भी विद्यमान थी। उस समय वह मत्स्य न्याय का प्रचलन प्रारंभ हो गया था अतः इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति मत्स्य न्याय की दारुण अवस्था से प्रजा को मुक्ति दिलाने के लिए ही संपन्न हुई है। कौटिल्य ने सभी प्रकार के आंतरिक व बाह्य संकटों से प्रजा की रक्षा को राज्य का एकमात्र दायित्व माना है। कौटिल्य ने प्रजा रक्षण के राज्य के दायित्व को तीन संदर्भों के रूप में विवेचित किया है।

1. राज्य में समाज कंटक व अपराधियों को समुचित दंड देकर प्रजा को विभिन्न प्रकार के अपराधों व हिंसा से बचाकर उनके जीवन में संपत्ति व सदाचार की रक्षा करना ही शासक का परम उद्देश्य है।

2. बाह्य आक्रमणों से प्रजा का बचाव करने हेतु राज्य की सुरक्षा व्यवस्था इतनी सक्षम हो कि शत्रु आक्रमण करके प्रजा के प्राण व संपत्ति को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुंचा सके व राज्य में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने की भी अपेक्षा की गई है कि बाहरी आक्रमणों से खतरा कम से कम हो।

3. प्राकृतिक आपदाओं जैसे अकाल, बाढ़ आदि से भी उत्पन्न होने वाले खतरों का सामना करने के लिए स्थाई व तत्कालीन उपायों को करना चाहिए। कौटिल्य द्वारा प्रजा रक्षण के दायित्व को इतना महत्वपूर्ण बताया गया है कि वह इसके लिए शासक कोई परामर्श देता है की युद्ध संबंधों से बचने का प्रयत्न करें ताकि अधिक से अधिक जनहानि होने से रोकी जा सके। आवश्यक होने पर ही दूसरे राज्यों के साथ युद्ध करें ताकि प्रजा की न्यूनतम हानि हो।

2. जनकल्याण: विभिन्न पक्षों से संबंधियों को निरंतर संचालित करने की अपेक्षा की गई है। जहां वह यह स्पष्ट करता है कि राजा जनता के लौकिक व अलौकिक कल्याण के उत्तरदायी है। वहीं उसने राज्य द्वारा किए गए योग्य कार्यों की एक विस्तृत सूची तैयार कर राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप को स्पष्ट किया है कि वृद्धों, महिलाओं, बालकों की हर प्रकार से सहायता करने की जिम्मेदारी भी राज्य को दी है। उसके अनुसार राज्य लोक कल्याणकारी गतिविधियों की विस्तृत सूची में जनसाधारण के लिए मनोरंजन आदि की व्यवस्था भी सम्मिलित करें। उसके अनुसार राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसे लोगों के भरण–पोषण की उपयुक्त व्यवस्था करें जिनके पास अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक साधन नहीं है कौटिल्य के स्वास्थ्य रक्षा हेतु औषधियों का संचालन व साफ–सफाई आदि की व्यवस्था भी राज्य को ही देता है। उसने पर्यावरण की रक्षा हेतु जैसे राज्यों को वन उद्यान आदि जल व वायु की स्वच्छ व्यवस्था आदि सभी को राज्य का उतरदायित्व माना है। उद्यान लगाने में यदि कोई व्यक्ति इच्छुक हो तो राज्य द्वारा उसे भूमि दी जानी चाहिए ताकि वहां पर वृक्षारोपण कर सके और यदि किसी व्यक्ति के पास वृक्ष ना हो तो उसे वृक्ष भी उपलब्ध किया जाना चाहिए। कौटिल्य द्वारा जनता के आवागमन को सुविधाजनक बनाने हेतु सड़कों, जलपान हेतु तालाब आदि का निर्माण व नदियों पर पुल बंनवाना, ये सभी कार्य राज्य का दायित्व ही माने गये हैं। वह प्रजा के लिए आवास की व्यवस्था व राज्य में शिक्षकों, राज्य कर्मियों, राहत कर्मियों को भूमि आवंटित करने आदि सभी कार्यों के लिए राज्य को ही उत्तरदायी मानता है। वह राज्य की गतिविधियों की विस्तृत सूची बनाता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह मनु की भांति ही राज्य को प्रजा का कल्याणकारी मापक समझता है। कौटिल्य द्वारा अरस्तु की भांति ही वितरणात्मक न्याय को राज्य का दायित्व बनाकर राज्य की लोक कल्याणकारी प्रकृति को भलीभांति स्पष्ट किया गया है। उसके अनुसार अप्राप्त की प्राप्ति व संरक्षण संवर्धन आदि से योग्य व्यक्तियों का वितरण ही राज्य का प्रमुख कार्य होना चाहिए। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि राज्य जनता में स्मृद्धि व कल्याण के प्रसार के अपने दायित्व की पूर्ति के पश्चात ही उससे कर प्राप्त करने का अधिकारी होता है। अतः संक्षिप्त में कहा जाए तो कौटिल्य जन कल्याण हेतु राज्य को अपने उत्तरदायित्व की निर्वहन में कोई भी कोताही बरतने को नहीं कहता। उसके अनुसार राज्य को अपने सभी कर्तव्यों का पालन पूरी दृढ़ता के साथ करना चाहिए।

राज्य के आर्थिक दायित्व

आर्थिक क्षेत्र में वह राज्य के ऐसे अहस्तक्षेपवादी सिद्धांत का समर्थन नहीं करता। वह राज्य से यह अपेक्षा करता है कि वह अर्थव्यवस्था को इस प्रकार नियंत्रित व संचालित करे जिससे समाज में साधनों का अत्यधिक केंद्रीकरण नही हो व जनता के सभी वर्गों के आर्थिक हित सुरक्षित रहें। कौटिल्य राज्य को विभिन्न व्यवसायों व व्यवसाय में लगे हुए लोगों की गतिविधियों पर नियंत्रित करने, उत्पादित वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने, किसी विशेष व्यवसाय में किसी व्यापारी के अधिकार को समाप्त आदि के माध्यम से अर्थव्यवस्था पर प्रभावशाली नियंत्रण रखने का परामर्श देते हुए दिखाई देता है। ऐसी वाणिज्यिक नीति को अपनाने की अपेक्षा भी वह राज्य से करता है जिसके द्वारा राज्य में व्यापार वाणिज्य प्रसार निरंतर होता रहे। जनता की आवश्यकताओं की वस्तुएं प्रचुर मात्रा में राज्य में हर समय विद्यमान हो व राजा से एक ऐसी व्यवस्था को अपनाने की बात कहता है जिससे कि व्यापारियों में उत्पादन की प्रेरणा भी बने। वह समुचित उपायों के द्वारा निरंतर प्रयत्नशील रहे कि व्यापारियों व व्यावसायियों द्वारा किसी भी प्रकार का शोषण कभी न किया जा सके। उसके अनुसार जरूरतमंदों को अपना व्यवसाय शुरू करने हेतु धन राज्य द्वारा ही प्रदान किया जाना चाहिए।

राज्य के अस्तित्व का प्रयोजन व संप्रभुता

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में यह कहा है कि राज्य एक निश्चित प्रायोजन को पूरा करने हेतु ही अस्तित्व में है। वह एक प्राकृतिक संस्था नहीं है। वह ज्ञान या विद्या की विभिन्न शाखाओं के विवेचन के प्रश्न से यह स्पष्ट करता है कि राज्य संस्था का एकमात्र उद्देश्य व्यक्तियों के अलौकिक व लौकिक विभिन्न प्रयोजनों की पूर्ति करना है। जिसके लिए वह सही ढंग से अधिकारियों को निर्देशित कर कार्य करवाता है और जनता के कल्याण के लिए समाज में न्याय के सिद्धांतों को लागू कर राज्य के अस्तित्व का मुख्य आधार स्थापित करना है। ज्ञान की शाखाओं के विवेचन व उनके मध्य पारस्परिक संबंधों के निरूपण के माध्यम से वस्तुत राज्य के प्रायोजन को स्पष्ट करने का निरंतर प्रयास करता है। ज्ञान की चार शाखाओं त्रयी, वार्ता, आन्वीदिकी व दण्डनीति को वह मानव जीवन के नैतिक भौतिक पर प्रयोजन व उनके प्रति व्यक्ति के जीवन में घटित होने वाली संस्थागत व्यवस्था के रूप में उपलब्ध कराने का प्रयत्न करता है। उसका यह भी मत है कि आन्वीदिकी से निर्दिष्ट होने पर व्यक्ति के आचरण में नैतिक व भौतिक कल्याण के प्रति प्रयत्नों का न्यायसम्मत संतुलन निरन्तर बना रहता है। कौटिल्य का मत है कि आंवीदिकी से दिशा प्राप्त करते हुए व्यक्ति के जीवन में नैतिक संतुलन सुनिश्चित होता है तथा समुदाय में अर्जित की गई भौतिक उपलब्धियों का समुदाय के मध्य तर्कसंगत वितरण भी सही ढंग से किया जाना है। उसके अनुसार राज्य वस्तुतः दंड नीति को व्यवहार रूप में संचालित करें। जो कि राज्य के हित में उपयुक्त है।

● शासक संबंधी विचार

शासक के व्यक्तिगत गुण

कौटिल्य द्वारा शासक से व्यापक दायित्वों की पूर्ति की अपेक्षा की गई है लेकिन जटिल शासकीय दायित्वों की पूर्ति हेतु कौटिल्य शासक में विशेष गुणों की उपस्थिति भी आवश्यक मानता है। कौटिल्य ने मनु की भांति राजा में तीन प्रकार के गुणों की अपेक्षा की है जो कि निम्नवत है।

1. ऐसे गुण जो राजा के उत्तम नैतिक चरित्र को पूर्ण व्यक्त करते हैं।

2. ऐसे कार्य साधक गुण जो राजा को उसके शासकीय दायित्वों के निर्वाह में पूर्ण रूप से सक्षम बनाते हैं।

3. राजा के नैतिक गुणों में कौटिल्य इंद्रिय नियंत्रण व विनम्र को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

वह राजा को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद व हर्ष आदि वृत्तियों से पूर्णतः मुक्त रहने का परामर्श देता है। वह यह कहता है कि राजा काम, क्रोध आदि के वश में यदि ग्रस्त हो जाए तो शासन करने व राज्य की रक्षा करने में पूर्णता असमर्थ हो जाएगा और अपने इसी वाक्य को समझाने हेतु उसने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं कि जो दुर्गुण के कारण पूर्णत नष्ट हो गए। कौटिल्य का मत है कि शासकीय कार्यों को कुशलतापूर्वक संपन्न करने के लिए राजा को पूर्णतह शिक्षित होना चाहिए। वह अपने सभी कार्य को कुशलता पूर्ण संपन्न करने के लिए राजा में बुद्धिमत्ता, दूसरों के गुणों को ग्रहण करने में तत्परता व संतुलित व्यवहार कर दूसरों को प्रसन्न करने की प्रबल इच्छा सदैव विद्यमान होनी चाहिए। इसी के साथ वह राजा को दूसरों के मनोरंजन, आमोद प्रमोद में संतुलित रुचि रखने का परामर्श देता हुआ भी प्रतीत होता है। वह राजा में धर्म के प्रति अडिग निष्ठा, दायित्वों के पालन में तत्परता, प्रजा के हित को सर्वोपरि मानता है। उसके अनुसार शासक को शक्ति का उपयोग संयम के साथ करना चाहिए। उसे कभी भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

शासक की दिनचर्या

राजकीय कार्यों को सुचारु रुप से करने हेतु राजा को वह यह परामर्श देता है कि उसे अपना प्रतिदिन का कार्य वर्गों में विभाजित कर करना चाहिए। वह राजा की दिनचर्या को दिवस के 8 भागों में विभक्त कर उसके कर्तव्यों को बताता है जो निम्न वत है।

दिवस के 8 भाग

प्रथम भाग	प्रजा की रक्षा के उपाय, राजकीय आय व व्यक्ति निरीक्षण सम्बन्धी कार्य
द्वितीय भाग	प्रजा के अभियोगों व समस्याओं को सुनना
तृतीय भाग	स्नान, भोजन व स्वाध्याय आदि कार्य
चतुर्थ भाग	कर विभाग का निरीक्षण व अधिकारियों की नियुक्ति व स्थानान्तरण आदि का प्रश्नों का निर्णय
पंचम भाग	गुप्तचरों से सूचनाएँ प्राप्त करना व मन्त्रिपरिषद से विचार–विमर्श करना
छठा भाग	अपनी इच्छानुसार समय व्यतीत करना
सातवां भाग	सेना सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना
आठवां भाग	युद्ध संबंधी विषयों पर सेनापति से विचार विमर्श करना

कौटिल्य राजा से यह अपेक्षा करता है कि वह दिवस के 8 भाग के लिए निर्धारित कार्यों को पूरा करने के बाद ही कुछ समय अपनी संध्या उपासना में भी व्यतीत करें। वह रात्रि के आठ भागों को निम्न रूप से पुनः निर्धारित करता है।

रात्रि के 8 भाग

प्रथम भाग	गुप्तचरों से पूर्णतः परामर्श करना
द्वितीय भाग	स्नान, भोजन व स्वाध्याय आदि कार्य
तृतीय भाग	पत्नी व अन्य परिवार जनों के साथ समय व्यतीत करना
चतुर्थ, पंचम व छठा भाग	शयन अथवा विश्राम
सातवाँ भाग	गुप्तचरों से मंत्रणा व उन्हें विभिन्न स्थानों पर कार्यों हेतु नियुक्त करना
आठवाँ भाग	पुरोहितों आदि से धर्म सम्बन्धी चर्चा व अन्य व्यक्तिगत प्रश्नों पर विचार विमर्श करना

राजा के विषय में वह व्यवहारिक दृष्टिकोण को भी अपनाता है और स्पष्ट करता है कि दिवस व रात्रि के विभिन्न भागों में राजा द्वारा किए गए कार्यों की प्रस्तावित रूपरेखा, सामान्य निर्देशक सिद्धांतों की प्रकृति ही है। वह अपना मत प्रस्तुत करता है कि राजा को परिस्थितियों व अवसर के अनुसार अपने कार्यक्रम में व्यवहारिक परिवर्तनों का परामर्श देते हुए यह अपेक्षा करता है कि राजा आलस्यवश अपने कार्यों को कदापि दूसरों को न सौंपे।

शासक पर नियंत्रण

कौटिल्य राज्यतंत्रीय व्यवस्था का पक्षधर नहीं था। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि राजा का अनुशासित रहना, राज्य व प्रजा दोनों के लिए हितकारी होता है। राजा द्वारा शक्ति के प्रयोग को नियंत्रित व मर्यादित करने हेतु कौटिल्य ने अनेक प्रकार के नीतिगत, संस्थागत, प्रतिक्रियात्मक व व्यवहारिक उपायों का सुझाव अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में दिया है जो कि निम्न है

1. **शिक्षा व प्रशिक्षण:** कौटिल्य राजा में अनेकों गुणों की अपेक्षा करता है। उसके अनुसार इन गुणों से अपने व्यवहार में लाने पर ही शासक के लिए परिपूर्ण होता है। वह कहता है कि भली–भांति शिक्षित व्यक्ति ही राजा के पद के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि यदि समुचित शिक्षा के द्वारा नैतिक गुणों को राजा के आचरण व स्वभाव का हिस्सा बना दिया जाए तो वह राजकीय कार्यों को संपन्न करते समय उन गुणों से सदैव अनुशासित ही रहेगा। कौटिल्य ने संस्थाओं व शिक्षा के प्रशिक्षण के माध्यम से राजा की शक्ति को नियंत्रित किया जाना माना है। उसने इस विषय में कहा था कि **"जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल भी बिना किसी युद्ध के अति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।"** राजा पर शिक्षा का नियंत्रण सदैव रहना चाहिए।

2. **जनता व जनमत का नियंत्रण:** कौटिल्य द्वारा शासक को जनता के महत्व के प्रति सदैव जागरूक रहना बताया गया है। उसका यह स्पष्ट मत था कि जनमत की अवहेलना करना या उनके विरुद्ध अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने से जनता असंतुष्ट हो जाती है, व विद्रोह पर उतर आती है जिसके फलस्वरूप साम्राज्य में अराजकता फैल जाती है। मनु के विपरीत कौटिल्य ने राजा द्वारा अपने दायित्वों का पालन न किए जाने पर प्रजा को राजा का परित्याग कर देने का अधिकार भी प्रदान किया है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि निरंकुश राजा की अपेक्षा राजा का आश्रय न होना ही बहुत अच्छा है। उसके अनुसार जनता के लिए राजा के धर्म विरुद्ध आदेशों का पालन करना आवश्यक नहीं है। राजकीय आदेशों की तुलना में धर्म के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहता है कि यदि राजकीय आदेश व धर्म के मध्य कोई टकराव हो तो राजकीय आदेशों की तुलना में धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया जाना चाहिए। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने शासन को नियंत्रित करने पर बल दिया है। वह एक ऐसे मर्यादित शासक की आवश्यकता को समाज हेतु मानता है जिस पर नैतिक व संस्थागत नियंत्रण के साथ–साथ जनता का भी इस पर नियंत्रण हो।

3. **नीति व धर्म का सैद्धांतिक नियंत्रण:** वह शासक को धर्म के अधीन रहने का पक्षधर है। उसके अनुसार सत्य, अहिंसा, दया व धर्म में राजा के कर्तव्य और दायित्व होते हैं। वह राजा को उसके राजकीय कार्यों को संपन्न करने के क्रम में एक ओर उसके दायित्वों के प्रति सचेत रहने को कहता है तो वहीं दूसरी ओर उसे सावधान भी करता है कि प्रत्येक राज्य या देश को धर्म के रूप में व्यक्त किए गए सार्वभौमिक और नैतिक नियमों के अधीन कार्य करना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि शासक का मर्यादित व अनुशासित रहना परम आवश्यक है। वह स्पष्ट करता है कि राजा धर्म, विधि व चरित्र के अनुसार राज संचालन कर योग्य शासक बन सकता है। यदि वह शासन की शक्ति का दुरुपयोग करता है तो वह स्वयं भी दंडनीय है।

4. **परामर्श दात्री संस्थाओं का नियंत्रण:** कौटिल्य का यह भी मत है कि उसके ऊपर परामर्श दात्री संस्थाओं का नियंत्रण होना चाहिए। राजा के द्वारा लिए गए निर्णय में हस्तक्षेप कर उसे यह सचेत करते रहे कि उसके विचारों को टक्कर देने वाला भी कोई दूसरा विद्यमान है। यदि राजा के निर्णय राज्य के हित में नहीं है तो वह अपनी इच्छाओं के विरुद्ध परामर्श दात्री संस्थाओं के परामर्श पश्चात उन्हीं के निर्णय को स्वीकृत कर राज्य में लागू करें।

● सप्तांग सिद्धांत

प्राचीन समय में भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य के मात्र साव्यय रूप का ही उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार राज्य की कल्पना एक जीवित शरीर की भाँति की गई। इस सिद्धांत के अनुसार जिस प्रकार मानव शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बना है उसी प्रकार राज्य रूपी शरीर भी विभिन्न अंगों से मिलकर बना हुआ माना गया है। भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में राज्य की कल्पना विराट पुरुष की भांति की गई तथा कौटिल्य प्राचीन भारत का एक पहला विद्वान था जिसने राज्य के संबंध में अपने इतने स्पष्ट विचार प्रस्तुत किए। उसने राज्य को सात अंगों का मिश्रण बताया उसकी मान्यता थी कि राज्य रूपी शरीर अंगों से मिलकर बना होता है यही कारण है कि कौटिल्य का राज्य सिद्धांत सप्तांग सिद्धांत कहलाया। उसने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में राज्य का विस्तारपूर्वक विवरण दिया है उसके अनुसार सप्तांग सिद्धांत के सात अंग निम्न हैं।

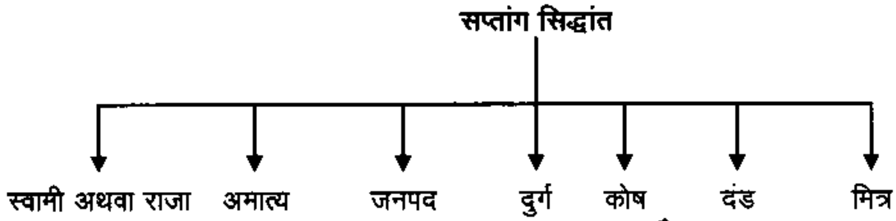

1. **राजा अथवा स्वामी :** कौटिल्य के द्वारा बताए गए 7 अंगों में सर्वाधिक सर्वोच्च स्थान स्वामी अथवा राजा का है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि राज्य की सफलता राजा पर निर्भर करती है। उसे भारत में प्राचीन समय में पाए जाने वाले गणतंत्र का भी पूर्ण ज्ञान था परंतु वह योग्य कल्याणकारी राजा का प्रबल समर्थक माना गया। उसने राजा की योग्यता गुणों व नीतियों का व्यापक उल्लेख अपनी अर्थशास्त्र में किया है। इस विषय में बीपी सिंह का स्पष्ट मत यह कहता है कि **"कौटिल्य की शासन प्रणाली में राज्य शासन की धुरी है और शासन संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन की गति प्रदान करने में राजा का एक मात्र स्थान है।"** वह राजा में एक आदर्श व्यक्ति को देखता है उसके लिए राजा सर्वगुण संपन्न एक आदर्श व्यक्ति है। कौटिल्य के राजा संबंधी विचार प्लेटों के आदर्श राजा या दार्शनिक शासक के समान दिखाई पड़ते हैं। वह स्पष्ट करता है कि राजा दृढ़ निश्चय ही सत्यवादी, वृद्धों के प्रति सम्मान भाव रखने वाला, युद्ध में चतुर व विवेकपूर्ण होना चाहिए। उस कठिन समय में साहस न व छोड़ने वाले समस्या को जड़ से पकड़ने की क्षमता रखने वाला होना चाहिए। राजकोष में वृद्धि रखने की क्षमता भी राजा के अंतर्गत विद्यमान होनी चाहिए। वह राजा में आध्यात्मिक व नैतिक गुणों का समावेश भी अत्यंत आवश्यक मानता है। उसके अनुसार कुछ गुण स्वाभाविक होते हैं परंतु कुछ अभ्यास से ही प्राप्त किए जाते हैं। राजा में यह दोनों गुण ही संतुलित मात्रा में होने चाहिए। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि शासन में शासक के अनुसार राजनीति, राज्य, सैनिक, शिक्षा व मानव अधिकार होना चाहिए राजा द्वारा अपनी इंद्रियों पर अंकुश लगाना चाहिए। कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धांत में राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान हुआ प्रतीत होता है। उसके अनुसार राजा शरीर में मस्तिष्क के समान है जिस प्रकार मस्तिष्क संपूर्ण शरीर पर अथवा शरीर के संपूर्ण अंगों पर अपना शासन करता है उसी प्रकार संपूर्ण राज्य में राजा भी शासन करता है परंतु यदि मनुष्य का मस्तिष्क अस्वस्थ हो जाए तो उसका संपूर्ण स्वास्थ्य भी अस्वस्थ हो जाएगा ठीक उसी भांति यदि राजा योग्य कार्य करे तो संपूर्ण राज्य भी स्वस्थ रहेगा।

2. **मंत्री या अमात्य :** स्पष्टत: कौटिल्य द्वारा मंत्री शब्द अमात्य से ही लिया गया है। वह अमात्य के अंतर्गत मंत्री व प्रशासनिक अधिकारी दोनों को नियत रखता है उसका मत था कि जिस प्रकार एक पहिए की गाड़ी नहीं चलाई जा सकती है उसी प्रकार एक व्यक्ति संपूर्ण प्रशासन को क्रियान्वित नहीं कर

सकता। राजा को प्रशासन में सहयोग की आवश्यकता अत्यंत होती है। उसके अनुसार सभी कार्यों की सफलता अमात्यों पर ही निर्भर रहती है। कृषि अधिकारियों की सफलता राजवंश, अंतपाल, आपत्तियों का प्रतिवाद, उपनिवेशों की स्थापना, अपराधियों को दंड आदि सभी कार्यों का निर्वहन अमात्यों के द्वारा ही किया जाता है। वह कहता है कि योग्य अनुभवी व्यक्तियों को बिना किसी पक्षपात के अर्थात बिना किसी भाई भतीजावाद या फिर अमीर गरीब देखकर अमात्य बनाना चाहिए। उन्हें कौटिल्य का यह भी मत है कि चरित्र परीक्षा के बाद ही आगे की नियुक्ति होनी चाहिए व अमात्यों को उनकी क्षमताओं के अनुसार कार्य सौंप देने चाहिए।

3. जनपद : कौटिल्य के राज्य रूपी शरीर का तीसरा अंग जनपद है जिसका अभिप्राय उस भू–भाग में निवास करने वाले नागरिकों से बताता है। उसका मानना था कि जनपद के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। वह कहता है कि दूसरे प्रदेशों से लोगों को आमंत्रित करने पर जनपद स्थापित किए जाने चाहिए। वह प्रत्येक जनपद में कम से कम 100 घर या अधिक से अधिक 500 घर वाले गांव बसाये जाने को कहता है। जिसमें किसानों की संख्या अत्यधिक हो। जनपद के संगठन में वह अपना स्पष्ट मत प्रस्तुत करता है कि **"800 गांवों के बीच स्थानीय, 400 गांव के बीच द्रोणमुख, 200 के बीच खार्वटिक तथा 10 गांव के समूह के रूप में संग्रहण की स्थापना की जाए।"** वह राज्य के छोटे आकार में पूर्ण विश्वास रखता था। उसके अनुसार जनपद निर्माण की पूरी योजना देता है जिसमें आरंभ में सीमांत के किले बने जिसमें अन्न व पानी की प्रचुर मात्रा हो। आपातकाल में वन एवं पर्वत में जाके रक्षा की जा सके। जनपद के पास शत्रु राजा के विरोधियों की संख्या अधिक हो। शत्रु राज्य कमजोर होना चाहिए। उसके पास घने जंगल जो कीमती लकड़ी, हिंसक पशुओं से भरे हुए हों उनके अंदर नदी, तालाब, जलवायु अच्छी हो। जनपद के निवासियों के संदर्भ में कहा है कि वह निष्ठावान, स्वाभिमानी व संपूर्ण होने चाहिए व सरल ह्रदय वाली, राजा के करो को चुकाने वाले होने चाहिए। प्रजा के अंदर अनुशासन व कर्तव्य परायणता निरंतर बनी रहनी चाहिए।

4. दुर्ग : वह अपने अर्थशास्त्र में दो तरह के दुर्गों का वर्णन करता है। 1. **दुर्ग विधान** इस से आशय उन मुख्य दुर्ग से है। वह मुख्य दूर्ग के निर्माण पर ही बल देता है। 2. **दुर्ग निवेश** इस से आशय दुर्ग के अंदर के भवनों तथा राज्यों के अंदर महत्वपूर्ण स्थानों पर निर्मित भवनों से किया गया है। कौटिल्य दुर्ग को राज्य की रक्षात्मक व आक्रामक दोनों शक्तियों का प्रतीक बताता है। उसके अनुसार राज्य की सुरक्षा के लिए मजबूत किला परम आवश्यक है। किले में वह सेना की मोर्चाबंदी, आक्रमण के लिए गुप्त निकास द्वार, गोला बारूद, भोजन के परस्पर बंदोबस्त भी आवश्यक बताता है। कौटिल्य ने दुर्ग को प्राय चार श्रेणियों में विभक्त किया है।

दूर्ग

औदक दूर्ग	**पर्वत दूर्ग**	**धान्वन दूर्ग**	**वन दूर्ग**
यह दूर्ग चारों ओर से पानी तथा तालाब से घिरां होता है।	यह बडी चट्टानों से निर्मित व पर्वतों पर स्थित होता है।	ये दूर्ग मरूस्थलीय स्थानों पर बने होते हैं जहाँ आसानी से पहुँचना असम्भव है।	ये दूर्ग घने जंगलों में बने होते हैं।

☛ विशेष

- कौटिल्य के अनुसार औदक व पर्वत दूर्ग संकट के समय राज्य व नागरिकों तथा धान्वन व वन दूर्ग संकट के समय राजा की सुरक्षा के लिए आवश्यक व अति उपयोगी होते हैं।

5. कोष : राजा द्वारा राज्य में अनेक कार्यों का वहन किया जाता है जिसके लिए निरंतर धन की आवश्यकता होती है अतः राज्य में कोष की स्थापना अत्यंत महत्वपूर्ण है राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह कोष की वृद्धि हेतु सदैव प्रयत्नशील रहे और कौटिल्य का इस विषय में स्पष्ट मत है कि धर्म अर्थ काम में अर्थ प्रधान है जिस कारण सेना भूमि समृद्धि आदि सभी में कोषों की परम आवश्यकता होती है वह प्रत्येक राज्यों को युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहने को कहता है। जिस हेतु यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त कोष हो जिससे वह सेना व दुर्ग दोनों की रक्षा कर पाए। उसे प्रजा से प्राप्त अनाज का छठा भाग, व्यापार से दसवां, पशुओं के व्यपार से प्राप्त पांचवा भाग सदैव राजा द्वारा राजकोष में निरंतर जमा किया जाना चाहिए। उसका स्पष्ट मत था कि **"राजा प्रजा से इस तरह संग्रह करें जैसे माली बगिया से पके पके फल लेता है प्रजा यदि कर देने में असमर्थ है तो उसे कच्चे फल की तरह ग्रहण न किया जाए क्योंकि अशक्त प्रजा से कर संग्रह उसमें असंतोष अथवा विद्रोह पैदा करता है।"**

6. दण्ड अथवा सेना : प्राचीन भारत में सभी चिंतकों द्वारा दंड को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कौटिल्य दंड का प्रयोग सेना के संदर्भ में करता है उसके अनुसार सेना राज्य की सुरक्षा का प्रतीक मानी गई है। जिस राजा के पास अच्छा सैन्य बल होता है उसके मित्र भी मित्र तो होते ही हैं वरन उसके शत्रु भी उसके मित्र बन जाते हैं। उचित सेना द्वारा वह अधिक से अधिक राज्यों पर अपनी विजय पताका फैलाते है। उसकी मान्यता है कि आवश्यकता पड़ने पर सेना में अन्य जातियों को भी राजा द्वारा शामिल कर लिया जाना चाहिए। वह सैनिकों हेतु यह कहता है कि सैनिकों को परस्पर स्वाभिमानिता का गुण रखना चाहिए वह राजा द्वारा सेना के बेहतर सेवा के लिए बेहतर वेतन व सुविधा भी उन्हें प्रदान की जानी चाहिए। कौटिल्य ने सेना में हस्ति सेना, अश्वसेना, रथ सेना और पैदल सेना आदि का उल्लेख किया है। उसके अनुसार हस्ति सेना को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। अतः सभी पर समान रूप से दंड लागू करने के लिए सेना अथवा शक्ति की आवश्यकता भी पड़ती है। दंड के अभाव में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। राज्य में पूर्ण शान्ति हेतु सेना की परम आवश्यकता होती है।

7. मित्र : कौटिल्य मित्र को भी राज्य के आवश्यक अंग के रूप में मान्यता प्रदान करता है। उसके अनुसार राजा अपनी प्रजा के कल्याण के कार्यों में निरंतर लगा रहता है। परंतु उसे बाहरी आक्रमणों की आशंका कम नहीं हो जाती इसलिए वह मित्र संग्रह को राज्य के लिए अत्यंत आवश्यक बताता है क्योंकि इससे राज्यों में परस्पर मैत्रीपूर्ण संबंध होने से उसकी सीमाओं की सुरक्षा अत्यधिक बढ जाती है। वह अपनी राज्यों की सीमाओं की सुरक्षा के प्रति आसक्त रहता है। मित्र को राज्य का आवश्यक अंग मानकर यह भी स्पष्ट करता है कि वह राज्य के साम्राज्यवादी स्वरूप से लेकर मित्रता पूर्ण व्यवहार पर भी विश्वास रखने योग्य है।

☛ विशेष

अंगों का तुलनात्मक महत्व

- कौटिल्य द्वारा सप्तांग सिद्धांत में राज्य के 7 अंग बताए गए हैं जिनके पश्चात ही राज्य शक्तिशाली बनता है वह प्रत्येक अंग का अपना एक अलग महत्व बताता है। व इनमें परस्पर सहयोग से ही

राज्य का संचालन सुचारु रुप से हो सकता है राज्य के 7 अंगों के संदर्भ में मनु भीष्म व शुक्र का मत है कि स्वामी, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र महत्व की दृष्टि से पूर्णतया क्रमानुसार है। कौटिल्य भी सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से स्वामी को सर्वोच्च शक्तिशाली व महत्वपूर्ण स्वीकारता है। वह संपूर्ण शासन की आधारशिला सर्वशक्तिमान राजा को ही बताता है। इसके विपरीत आचार्य भारद्वाज ने इसकी उपेक्षा करते हुए स्वामी की तुलना में अमात्य को अधिक महत्व दिया है। कौटिल्य द्वारा राजा को प्रशासन के केंद्र का अधिकार भी दिया है उसका मानना है कि एक अयोग्य अमात्य को हटाया जा सकता है उसके स्थान पर राजा नया अमात्य नियुक्त कर सकता है वह संपूर्ण प्रशासन की आधारशिला राजा को मानता है। कौटिल्य के सप्तांग सिद्धांत के द्वारा राजनीति शास्त्र को अत्यधिक लौकिक स्वरूप प्रदान करता है। राज्य की प्रकृति का तुलनात्मक विवेचन नहीं करता। अर्थशास्त्र के विभिन्न प्रसंगों में वह पूर्णतः स्पष्ट करता है कि राज्य के कार्यों की सिद्धि के लिए प्रकृति को ही महत्व दिया जाना आवश्यक है। वह यह भी स्पष्टीकरण करता है कि राज्य के अंगों के रुप में साथ प्रकृति और विवेचन समान रूप से अनिवार्य है। प्रकृति के माध्यम से शासन के संस्थागत स्वरूप और राज्य के आवश्यक साधनों का भी स्पष्टीकरण उसके द्वारा किया गया है परंतु सप्तांग सिद्धांत में पूरे अंगों का विवेचन पूर्णता दिखाई नहीं पड़ता। राज्य की संपत्ति का कौटिल्य ने धर्म की अवधारणा की व्याख्या द्वारा स्पष्ट किया है जिस कारण राज्य के जिन 7 अंगों का कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित किया गया वह जनपद में भू भाग और जनसंख्या दोनों ही तत्व नहीं रखते। शासक द्वारा दूसरे राज्यों के साथ संबंध स्थापित करने की आवश्यकता को प्रकट किया गया है।

● षाड़गुण्य नीति

कौटिल्य ने पड़ोसी देशों के साथ व्यवहार के लिये 6 लक्षणों वाली नीति अपनाने को कहा। प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी इसके लक्षण प्रायः देखने को मिलते है। मनु के विचारों में तथा महाभारत में भी इसका उल्लेख दिखता है। कौटिल्य की मान्यता थी कि विदेश नीति का निर्धारण इन छः गुणों के आधार पर ही करना चाहिए। कौटिल्य ने षाड़गुण्य नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि – **"उनमें दो राजाओं का मेल हो जाना संधि, शत्रु का अपकार करना विग्रह, उपेक्षा करना, आसन हमला करना, यान आत्म सर्मपण करना, संश्रय, दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है।"**

षाडगुण्य नीति का व्यावहारिक पक्ष

कौटिल्य ने षाड़गुण्य नीति का विकास व्यावहारिक आधार पर पूर्ण किया। कौटिल्य यह जानता था कि राजा अथवा राज्य के समक्ष कई अवसर ऐसे आते हैं, जब उनके सामने की चुनौती बहुत शक्तिशाली तथा कई बार चुनौती बेहद कमजोर होती है। ऐसे में राजा को परिस्थितियों के अनुसार नीति अपनानी चाहिए तथा कमजोर होने पर विग्रह कर लेना चाहिए। यदि दोनों समान स्थिति में हैं तो आसन को स्वीकार कर लेना ही उचित है। यदि राजा स्वयं को सक्षम एवं तैयार समझता है तो उसे यान (चढ़ाई) का सहारा लेना ही चाहिए। समय, परिस्थितियों के अनुसार नीति में परिवर्तन करके राष्ट्रहित को साधना ही राजा का कर्तव्य है। कौटिल्य की मान्यता थी कि समय के साथ षाडगुण्य नीति में परिवर्तन किया जाना चाहिए। कौटिल्य की षाडगुण्य नीति निम्नवत है।

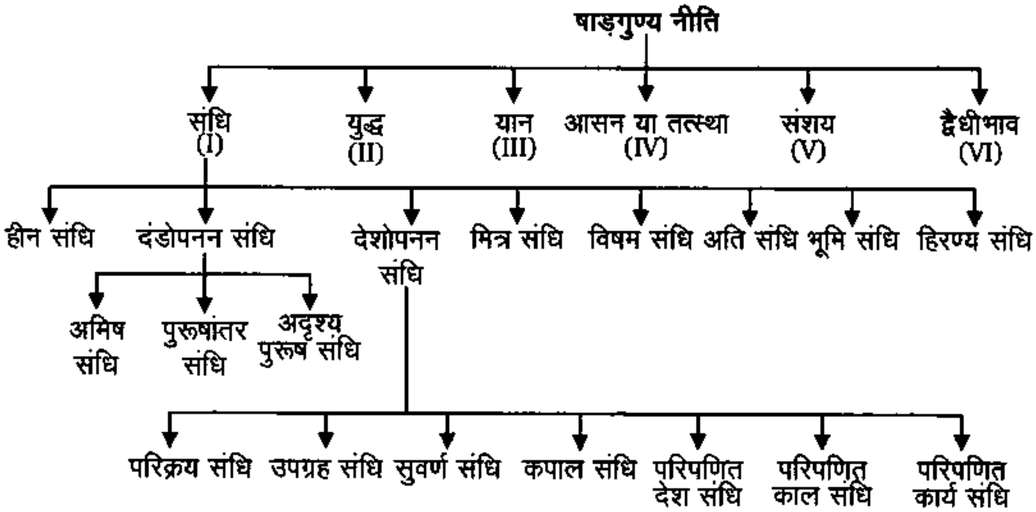

I. संधि: कौटिल्य के षाड्गुण्य नीति का पहला एंव महत्त्वपूर्ण तत्व संधि ही है। कौटिल्य का मत है कि यह दो राजाओं के मध्य हुआ एक समझौता है। यह राजा के द्वारा किया गया वह उपक्रम है जिसका उद्देश्य अपने को बलशाली बनाना तथा शत्रु को कमजोर करना है। कौटिल्य ने संधि के लिये निम्न आवश्यक परिस्थितियों का वर्णन किया है:

1. यदि राजा समझता है कि इससे उसके हित सिद्ध होंगे तथा शत्रु को हानि होगी तो संधि करना उचित है।

2. शत्रु पक्ष के लोगों को कृपा दिखाकर अपने में शामिल करना, संधि का ही रूप है।

3. शत्रु के साथ संधि कर उसका विश्वास प्राप्त हो जाये तो गुप्तचरों व विष प्रयोग से शत्रु का नाश करना भी संधि का एक प्रकार है।

4. उत्तम कार्यों के साथ शत्रु के उत्तम कार्यों से लाभ प्राप्त करना संधि का सबसे लाभप्रद स्वरूप है।

संधि के प्रकार: कौटिल्य ने अनेक प्रकार की संधियों का उल्लेख क़िया है। इसमें से कुछ प्रमुख संधि इस प्रकार है:

1. **हीन संधि:** हीन संधि एक विशेष प्रकार की संधि है जिसे एक बलवान राजा के साथ एक कमजोर राजा अपनी सुरक्षा और हित सवर्धन के लिये करता है।

2. **दडोपनत संधि:** कौटिल्य ने इस संधि के तीन प्रकार बताये है:

अमिष संधि: जब पराजित राजा विजयी राजा के समक्ष अपनी सेना, धन के साथ सर्मपण कर दे तो उस संधि को अमिष संधि कहते है।

पुरूषांतर संधि: अपने सेनापति तथा राजकुमार को विजयी राजा को सौपकर जो संधि की जाती है। वह पुरूषांतर संधि कहलाती है।

अदृश्य पुरूष संधि: यह एक विशेष संधि होती है जिसमें यह निश्चित होता है कि विजयी राजा के हित के लिये पराजित सेना या राजा उपक्रम करेगा अथवा नहीं। यह संधि अदृश्य पुरूष संधि कहलाती है।

3. **देशोपनत संधि:** देशोपनत संधि के निम्न प्रकार होते हैं।

परिक्रय संधि: यह वह संधि होती है जिसमें बलवान राजा द्वारा युद्ध में गिरफ्तार किये गये महत्वपूर्ण व्यक्तियों को धन देकर छोड़ दिया जाता है।

उपग्रह संधि: यह वह संधि है जिसमें धनराशि निश्चित कर किस्तवार धन अदा करने पर जोर दिया जाता है।

सुवर्ण संधि: सुविधानुसार निश्चित समय पर नियमित धनराशि देने की संधि सुवर्ण संधि के नाम से जानी जाती है।

कपाल संधि: यह वह संधि हैं जिसमें संपूर्ण धनराशि तत्काल अदा करने की शर्त प्राथमिक होती है।

परिपणित देश संधि: यह एक प्रकार की रणनीतिक संधि है जो दो राज्यों के बीच होती है। इसमें दो राज्य रणनीति के तहत अलग–अलग दो राज्यों पर हमला कर विजय प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं।

परिपणित काल संधि: यह समय (काल) को आधार मानकर की गई संधि होती है। इसमें दो राज्य एक निश्चित समय पर कार्य करने पर अपनी सहमति देते हैं।

परिपणित कार्य संधि: यह दो राज्यों के बीच एक निश्चित कार्य को करने का समझौता मात्र है। इसमें अपने–अपने हिस्से का कार्य विभिन्न नियमों हेतु तय हो जाता है।

4. **मित्र संधि**: यह एक अलग प्रकार की संधि है जो दो मित्र राजाओं के बीच परस्पर हित पूर्ति के लिये सम्पन्न की जाती है।

5. **विषम संधि**: यह दो राज्यों के बीच दो अलग–अलग कार्यों को करने का समझौता है। इसमें एक राज्य हिरण्य का तथा दूसरा भूमि का कार्य करने हेतु बाध्य होता है।

6. **अति संधि**: यह विशेष संधि है जो उम्मीद से अधिक लाभ प्राप्त होने का प्रतीक मानी गयी है।

7. **भूमि संधि**: यह दो राज्यों के बीच भूमि प्राप्त करने हेतु किया गया एक समझौता मात्र है।

8. **हिरण्य संधि**: हिरण्य लाभ के लिये की गई संधि हिरण्य संधि कहलाती है।

II. विग्रह या युद्ध: यह राजा की एक महत्वपूर्ण नीति है। राजा को युद्ध का सहारा तभी लेना चाहिए जब उसे लगे कि शत्रु कमजोर हो गया है। कौटिल्य ने आगे स्पष्ट किया है कि यदि विजीगीषु राजा को यह लगे कि संधि और विग्रह दोनों से ही समान लाभ प्राप्त हो रहा है तो उसे विग्रह के स्थान पर संधि का ही सहारा लेना चाहिए।

कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि युद्ध के लिये एक शक्तिशाली सेना आवश्यक है। उसने सेना के चार अंग बताये है– पैदल सैनिक, हाथी, घोड़े व रथ। कौटिल्य उक्त चारों में हाथी पर अधिक बल देता है। सैनिकों की भर्ती के संबंध में वह वंशानुगत सैनिकों को अधिक महत्त्व देता था। वह क्षत्रियों को अधिकाधिक सेना में रखने का पक्षधर था। यदि संख्या कम हो तो वह वैश्य एवं शुद्रों को भी शामिल करने पर बल देता है।

कौटिल्य ने विजय प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार के बल को आवश्यक बताया– नैतिक बल, अर्थ बल तथा कूटनीतिक बल। इसमें से वह नैतिक बल अथवा उत्साह शक्ति पर अधिक बल देता था। कौटिल्य ने युद्ध के निम्न प्रकार बताये हैं।

1. **प्रकाश युद्ध**: यह युद्ध किसी देश या समय को निश्चित कर किया गया युद्ध प्रकाश युद्ध कहलाता है।

2. लूट युद्ध: छोटी सेना को बड़ा दिखाकर किया गया युद्ध लूट युद्ध कहलाया। इसमें किलों को जलाना, लूटपाट करना, धावा बोलना आदि शामिल है।

3. तृष्णी युद्ध: विष या औषधि के माध्यम से शत्रु का नाश करना तृष्णी युद्ध के अन्तर्गत आता है।

☛ विशेष

- **युद्ध का उपयुक्त समय:** कौटिल्य ने युद्ध की व्यापक योजना प्रस्तुत की। उसने वर्ष के बारह महीनों का विश्लेषण कर उचित समय का वर्णन किया है। उसके अनुसार युद्ध में अधिक समय लगने की स्थिति में पौष में, मध्यम समय लगने की स्थिति में चैत्र में व अल्प समय लगने पर जेठ युद्ध का श्रेष्ठ समय है। वह वर्षाकाल को युद्ध के लिये घातक मानता है। यदि भू–प्रदेश अनुकूल है तथा युद्ध टाला नहीं जा सकता तो इस समय भी युद्ध करना उचित है।
- **युद्ध का प्रबंध तथा नियम:** कौटिल्य युद्ध के व्यापक प्रबंध का पूर्णतः पक्षधर था। वह मानता था कि युद्ध भूमि में सभी आवश्यकता की पूर्ति का प्रबंध युद्ध से पूर्व कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इसमें आवश्यक औषधि सामग्री, वैद्य, खाने–पीने की सामग्री, रसोइयों तथा सैनिकों को खुश करने वाली महिलायें भी शामिल की गयी है। कौटिल्य युद्ध मैदान के कुछ नियम भी तय करता है। उसकी मान्यता है कि युद्ध में घायल सैनिकों, भागते सैनिकों तथा आत्मसमर्पण करने वाले सैनिकों पर प्रहार कदापि नहीं करना चाहिए। भयभीत एवं गिरे हुए मनोबल वाले सैनिकों को भी नहीं मारा जाना चाहिए।
- **विजयी राजा के प्रकार:** कौटिल्य ने विजीगीषु राजा के तीन प्रकार बताये है:

1. **धर्मविजयी:** धर्मविजयी गौरव एवं प्रतिष्ठा के लिये विजय प्राप्त करना चाहता है।वह शत्रु द्वारा आत्मसमर्पण करने से संतुष्ट हो जाता है।

2. **लोभ विजयी:** लोभ विजयी वह राजा होता है जो भूमि एवं धन दोनों देने से संतुष्ट हो जाता है।

3. **असुर विजयी:** असुर विजयी राजा वह होता है जो आसुरी प्रवृतियों से युक्त होता है। इसमें वह धन, भूमि, प्राण तथा स्त्री आदि को पाकर ही संतुष्ट होता है।

(III) यान: यान का अर्थ है 'आक्रमण'। इस नीति को तभी अपनाया जाता है जब शासक को यह लगे कि उसकी सैनिक शक्ति मजबूत है तथा बिना आक्रमण किये शत्रु को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में यान का विस्तृत वर्णन किया है।

(IV) आसन या तटस्थता: यह वह अवस्था है जिसमें उचित समय की प्रतीक्षा में राजा चुपचाप तटस्थ होकर बैठा जाता है। यह अपने को मजबूत करते हुए शत्रु पर आक्रमण करने के सही समय की प्रतीक्षा करता रहता है। कौटिल्य ने आसन के दो प्रकार बताये है:

1. विग्रह आसन

2. संधाय आसन

विग्रह आसन: जब विजीगीषु विजयीऋ और शत्रु दोनों ही सन्धि करने की इच्छा रखते है तथा परस्पर एक दूसर को नष्ट करने की शक्ति न रखते हो तो कुछ काल युद्ध कर चुप बैठ जाते है।

संधाय आसन: जब दोनों राजा एक संधि कर चुपचाप बैठ जाते है तो उसे संधाय आसन कहते है।

(V) संश्रय: यह एक प्रकार का आश्रय या शरण है जो कमजोर राज्य बलवान राजा के समक्ष लेता है। यह तभी होता है जब राजा बेहद कमजोर हो तथा अपनी रक्षा करने में पूर्णतः असमर्थ हो।

(VI) द्वैधीभाव : द्वैधीभाव की नीति से कौटिल्य का आशय एक राज्य के प्रति संधि तथा दूसरे के प्रति विग्रह नीति को अपनाने की नीति से है। यह राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक से सहायता लेने तथा दूसरे से लड़ने की नीति ही है। वह विशेष परिस्थितियों में विशेष नीति अपनाने का भी पक्षधर था। विदेश नीति के संचालन में वह साम, दाम, दण्ड, भेद आदि की नीति के अपनाने का पूर्णतः पक्षधर था। इन चारों में वह साम (समझाना) को दाम (पैसे देना) से श्रेष्ठ व भेद (फूट डालना) को दण्ड (युद्ध से) श्रेष्ठ मानता है।

षाड़गुण्य नीति का मूल्यांकन : कौटिल्य की षाड़गुण्य नीति का निम्न आधार पर आलोचना की गयी है:

1. आधुनिक समय में यह अनुपयुक्त है। जिसे व्यावहारिक नहीं माना जा सकता है।
2. इसमें अनैतिक माध्यम, छल, धोखा, आदि पर बहुत बल दिया जाता है।
3. कौटिल्य भूभाग विस्तार का पूर्णतः पक्षधर था। वह इसके विस्तार के लिये सदैव प्रयत्नशील रहने का हिमायती था। जिससे हिंसा एवं रक्तपात की संभावना निरन्तर बनी रहती हैं।

● कानून संबंधी विचार

कौटिल्य के अनुसार राज्य में कानूनों का सख्ती से पालन किया जाना चाहिए। कौटिल्य का कानून, अनुभववाद च आध्यात्मवाद पर पूर्णतः आधारित था। उसके कानून का आधार ही धर्म था। उसकी मान्यता के अनुसार जो राज्य कानून का पालन नहीं करते वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। वह राज्य का उद्देश्य प्रजा के जीवन एवं संपत्ति की रक्षा करना भी बताता है। जिसके लिए कानून अत्यंत आवश्यक तत्व है। वह कानून एवं दंड को सगी बहनों की तरह मानता है जो राज्य को स्थायित्व व नागरिक जीवन में सुधार का संचार करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

कानून की परिभाषा

कौटिल्य के अनुसार **"कानून शाही आदेश है जो स्वीकृति के द्वारा ही लागू किया जाता है।"** वह कानून सभी शाही आदेशों का प्रतिरूप स्वरूप है। उन्होंने राजा को वरुण के समान माना है। जो सर्वोच्च व सर्वश्रेष्ठ न्यायधीश की भूमिका को अदा करता है।

कानून का उद्देश्य

कौटिल्य कानून का एकमात्र उद्देश्य व्यक्ति व समाज का कल्याण बताता है वह व्यक्ति और समाज दोनों के सभी पहलुओं का समाधान कल्याणकारी रूप में भी करता है

कानून के स्रोत

कौटिल्य द्वारा कानून के चार स्रोत बताए गए हैं।

1. धार्मिक
2. राजकीय
3. व्यवहारिक
4. सामाजिक रीति–रिवाज व परम्परा

उपरोक्त के विषय में एक स्थान पर यह लिखा गया है कि **"धर्म, व्यवहार, चरित्र व राजा ये विवाद के निर्णय साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर माने जाते हैं।"**

कानून का वर्गीकरण

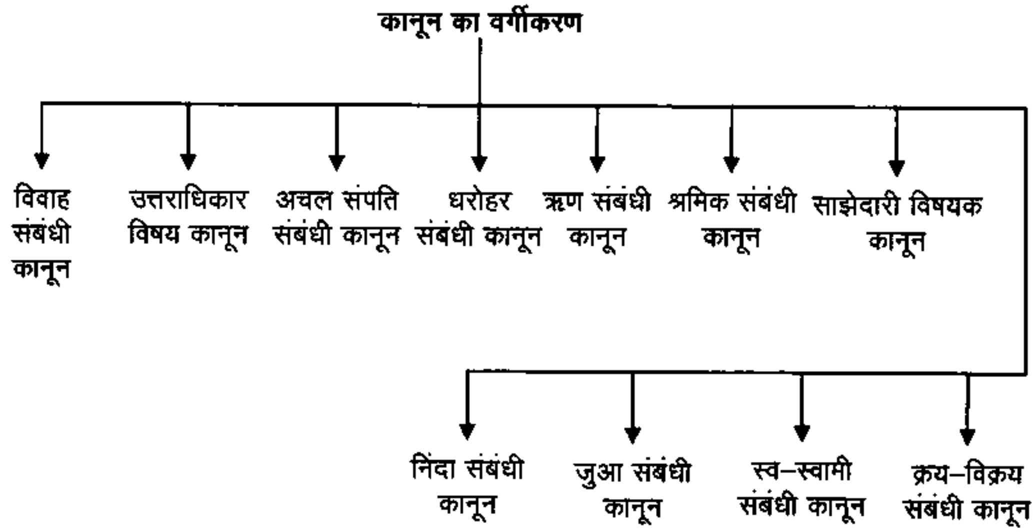

कौटिल्य कानून का वर्गीकरण निम्न भागों में करता है:

1. **विवाह संबंधी कानून:** कौटिल्य द्वारा अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में विवाह पर व्यापक रूप से विमर्श किया गया है। इसमें उसने धर्म विवाह, स्त्री का पुनर्विवाह, पति–पत्नी द्वेष पर पुरुष अनुसरण व पुनर्विवाह पर व्यापक चर्चा करके इसके नियम व कानून का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

2. **दाय या उत्तराधिकार विषयक नियम:** वह उत्तराधिकार का सामान्य नियम पैतृक क्रम से विशेषाधिकार पुत्र क्रम से विशेषाधिकार पर वर्णित करता है। उसके अनुसार माता–पिता या पिता के जीवित रहते लड़के संपत्ति के उत्तराधिकारी कदापि नहीं होते। व न ही वे संपत्ति का बंटवारा कर सकते हैं। यदि संयुक्त परिवारों में रहने वाले पुत्रों व पौत्र चौथी पीढी तक अविभाजित पैतृक संपति के बराबर के हकदार है। जिसका कोई भी उतराधिकारी न हो तो उसे राज्य द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। उसकी मान्यतानुसार अंधा और कोढी व्यक्ति कभी भी संपत्ति के उत्तराधिकारी नहीं हो सकते।

3. **अचल संपत्ति संबंधी कानून:** इस कानून के अंतर्गत कौटिल्य द्वारा संपत्ति को बेचने, सीमा विवाद कर की छूट गांवों का बंदोबस्त सामूहिक कार्यों में शामिल न होने का मुआवजा आदि का वर्णन किया गया है जिसमें कर की छूट रास्ते को रोकना गांवों का बंदोबस्त आदि सम्मिलित है।

4. **धरोहर संबंधी कानून:** इसके अंतर्गत धरोहर गिरवी उधार आदि की वस्तुओं को ले जाने के बदले धरोहर आदि रखने की व्यवस्था को बताया गया है।

5. **ऋण संबंधी कानून:** कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ब्याज ब्याज के नियम एक व्यक्ति पर अनेक व्यक्तियों के कर्ज संबंधी कानून सभी का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। वह ब्याज के संदर्भ में कहता है कि जो 100 पण पर सवा पण ब्याज लिया जाना चाहिए। कर लेने वाले के चरित्र की निगरानी भी रखनी चाहिए। ताकि उनमें कभी हीन भावना उत्पन्न न हो जाए।

6. **दास व श्रमिक संबंधी कानून:** कौटिल्य द्वारा अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में श्रमिक व नौकरों की वेतन पर भी प्रकाश डाला गया है। उन्होंने यूनानी विचारकों की तरह दास प्रथा को स्वीकार किया है। वह निम्न जातियों व आनाथों को दास बनाने पर भी वह बल देते दिखाई दिया हैं। विशेष स्थिति में यदि उनका व्यक्ति दास बन गया हो तो उसे आरक्षण मुक्त कर देना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यदि दासी से उच्चकुल संतान उत्पन्न हो जाए तो उसे दासता से मुक्त कर देना चाहिए।

7. साझेदारी विषयक कानून: वह स्पष्ट किया है कि ठेके पर मजदूरी करने वाले मजदूर प्राप्त मजदूरी को आपस में ईमानदारी से बांटे। व्यापारियों द्वारा माल खरीदने से बेचने तक हुआ लाभ सबमें बराबर बाँटना चाहिए।

8. क्रय–विक्रय संबंधी कानून: कौटिल्य ने क्रय–विक्रय संबंधी अपने सभी लेखों का उल्लेख अपने पुस्तक में विस्तृतपूर्वक किया है। उसने स्पष्ट किया है कि क्रय–विक्रय करने वाले व्यापारियों का बयाना एक दिन में, किसानों का क्रय–विक्रय तीन दिन और दूध देने वालों का बयाना पाँच दिन में वापस कर देना चाहिए।

9. स्व–स्वामी संबंधी कानून: इस कानून के संबंध में वह अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में विस्तृत पूर्वक बताता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी संपत्ति का उपयोग कर रहा है तो उस पर उसका स्वामित्व हो जाता है वह आगे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी की संपत्ति का प्रयोग करता है तो वह उसका आधिकारिक हो जाता है व जिसकी वह संपत्ति थी वह इसे खो देता है तथा उस पर कोई दावा नहीं कर सकता।

10. निंदा संबंधी कानून: कौटिल्य ने निंदा संबंधित कानून के संबंध में यह स्पष्ट किया कि किसी को धमकाना या निंदा करना वाक्यारूष्य नामक अपराध के अंतर्गत आते हैं।

11. जुआ संबंधी सिद्धांत: उसके अनुसार राज्य को अपनी निगरानी में नियत स्थान पर जुआ खेलने की व्यवस्था कर देनी चाहिए। जुआ पर सदैव पैनी नजर रखनी चाहिए व नियमों का उल्लंघन करने वालों को दंड देने की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

● न्याय संबंधी विचार

कौटिल्य न्याय को राज्य का अनिवार्य तत्व बताया है। उसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति ही मत्स्य न्याय के स्थान पर औचित्य व नैतिकता के आधार पर न्याय की स्थापना के लिए ही हुई है। अरस्तू की भांति न्याय के दो पक्ष बताता है:

1. विवरणात्मक न्याय: इसके अंतर्गत वह राजा का करात्मक दायित्व लाता है जिसकी पूर्ति राज्य यह निश्चय कर करता है कि प्रजा का कोई भी वर्ग अभावग्रस्त न हो व समान साधनों का वितरण न्याय व औचित्यपूर्ण हो।

2. सुधारात्मक न्याय: इसके अंतर्गत राज्य का यह दायित्व है कि वह कानूनों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को समूचित दंड देकर प्रजा के अधिकारों की सुरक्षा करे।

राज्य से न्यायपालिका को संगठित स्वरूप प्रदान करने की अपेक्षा व्यक्त करता है। राज्य द्वारा न्याय को सुरक्षित करने के अपने दायित्व की पूर्ति सदैव करनी चाहिए। कौटिल्य सामाजिक व्यवस्था के निर्वहन के लिए राज्य को उत्तरदायित्व बताता है, उसके अनुसार सामाजिक संगठन के सिद्धांत व समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य संबंधों के संचालन में राज्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। कौटिल्य द्वारा राज्य पर यह सुनिश्चित करने का दायित्व भी डाला गया है कि वह सामाजिक व्यवस्था का निर्वाह शास्त्रों में स्वीकृत वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप करे। वह राज्य को सामाजिक व्यवस्था के संबंध में नियमों का प्रतिपादन करने की शक्ति प्रदान नहीं करता।

न्यायाधीश की नियुक्ति

कौटिल्य द्वारा अपने राजनीतिक दर्शन का आधार राजा को बताया गया है। उनकी मान्यता एक योग्य, कर्तव्य–परायण व जनकल्याणकारी राजा की है। इसके बावजूद न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए वह राज्य में न्यायाधीशों की नियुक्ति को भी परम आवश्यक बताता है। उसकी मान्यता थी कि उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायाधीश व तीन अमात्य एक साथ बैठकर विवादों का निपटारा अपने सुझाव से करें। उसके अनुसार न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्य में राजा द्वारा की जानी चाहिए।

न्यायपालिका का संगठन

न्यायपालिका के संगठन के विषय में अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में उसने कई स्थानों पर सुझाव दिए गए हैं। उसके अनुसार न्यायपालिका की व्यवस्था निम्न प्रकार से होनी चाहिए।

1. **जनपद संधि न्यायालय:** इसके अंतर्गत वे न्यायालय आते थे जो 2 राज्यों के गांवों की सीमा पर स्थापित थे।

2. **संग्रहण न्यायालय:** यह कौटिल्य की न्यायपालिका की एक मुख्य इकाई थी जिसमें 10 गांवों के केंद्र में स्थापित न्यायालय को संग्रहण न्यायालय कहकर पुकारा गया।

3. **द्रोण मुख्य न्यायालय:** यह कौटिल्य की न्याय व्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण इकाई मानी जाती है जिसका कार्यक्षेत्र अत्यधिक व्यापक था इसमें 400 गांवों के केंद्र में इस न्यायालय को स्थापित किया गया था। इसका कार्य क्षेत्र संग्रहण न्यायालय से विस्तृत था।

4. **स्थानीय न्यायालय:** यह दुर्मुख न्यायालय की अगली कड़ी था इसमें 800 गांवों को समाहित किया गया था। वह 800 गांवों के केंद्र में स्थापित एक न्यायालय था।

न्यायपालिका का वर्गीकरण
(विवाद स्वरूप के आधार)

दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालय	फौजदारी अथवा कुष्टकशोधन न्यायालय
धर्मस्थलीय न्यायालय वह न्यायालय है जो नागरिकों के परस्पर व्यवहार से उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करता है व इस तरह के विवादों को कौटिल्य ने व्यवहार की ही संख्या प्रदान की है। उसने मुख्य रूप से संपत्ति संविदा उत्तराधिकार, विवाह, धरोहर साझेदारी आदि संबंधी विवादों को इसी न्यायालय के अंतर्गत माना है।	कौटिल्य के अनुसार कुष्टकशोधन न्यायालय वह न्यायालय होता है जिसका उद्देश्य राज्य के शत्रुओं को राज्य से दूर रखना होता है। इसका मुख्य लक्ष्य राजा अथवा राज्य के विरुद्ध किए जाने वाले अपराधों पर विचार कर अपना निर्णय देना होता है। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से प्रजा के प्रतिदिन के संपर्क के धोबी, रंगरेज, सुनार, वैद्य आदि के द्वारा प्रजा के शोषण आदि के मामले आते हैं। इसमें कर्मचारियों के द्वारा प्रजा के उत्पीड़न के मामले भी दृष्टिगोचर होते हैं। कौटिल्य ने इन सभी अपराधों को कुष्टक श्रेणी में रखा है। वह इन अपराधों का पता लगाने के लिए वह गुप्तचर व्यवस्था पर भी बल देता है।

कौटिल्य की संपूर्ण न्याय व्यवस्था आधुनिक है। वह न्याय की निष्पक्षता पर बहुत बल देता प्रतीत होता है। वह न्याय व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण का हिमायती था। उसने उच्च न्यायालय में तीन धर्मरथ न्यायाधीश तथा तीन अमात्यों पर बल दिया तथा निर्णय सर्वसम्मति से करने पर बल दिया जो कि आज के समय बहुसदस्य न्याय पीठ के रूप में विद्यमान हैं। उन्होंने न्याय व्यवस्था को निष्पक्ष बनाने के लिए संपूर्ण प्रक्रिया गवाही के लिखे जाने पर बल दिया। मान्यता थी कि न्याय प्रदान करने की व्यवस्था में लिंग तथा वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। उसने न्यायाधीशों पर भी निगरानी पर बल दिया है। व यह कार्य गुप्तचर विभाग को सौंपा गया यदि न्यायधीश नियमों की अनदेखी करता है तो उसे दंडित भी किया जाना चाहिए।

<u>कौटिल्य के अनुसार न्याय व्यवस्था का संचालन</u>

कौटिल्य ने सामाजिक व्यवस्था के निर्वाह के लिए राज्य को उत्तरदाई माना है। कौटिल्य सामाजिक संगठन के सिद्धांतों तथा समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य संबंधों के संचालन में राज्य की भूमिका को विनयमनकारी मानते हैं। कौटिल्य ने राज्य पर यह सुनिश्चित करने का दायित्व डाला है कि सामाजिक व्यवस्था का निर्वाह वेदों और शास्त्रों में स्वीकृत वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप हो। सामाजिक व्यवस्था के संबंध में नियमों के कर्तव्य की अपनी इच्छा से व्याख्या करने की शक्ति प्रदान नहीं करता है। वह राजा को यह आदेश देता है कि वह व्यक्तियों द्वारा उनके कर्तव्य पालन और उनके धर्मों के निर्माण में अनावश्यक हस्तक्षेप ना करें। वह सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों तथा विभिन्न वर्गों के आपसी संबंधों तथा विभागों की विधि द्वारा विनीत और संचालन किये जाने को आवश्यक मानता है। यही कारण है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विवाह, धर्म, स्त्री और पुरुषों के परिवारिक दायित्वों का पालन करने संबंधी नियमों को प्रतिपादित किया। कौटिल्य के अनुसार यदि संतान समर्थ होते हुए भी अपने माता–पिता का भरण पोषण नहीं करती है तो उसे राज्य द्वारा दंडित किया जाना चाहिए।

● दंड संबंधी विचार

कौटिल्य दंड के निर्धारण में समानता के सिद्धांत को नहीं मानता है। उसका मानना है कि महिलाओं और बच्चों को कम दंड मिलना चाहिए। उसने वर्ण व्यवस्था के आधार पर भी भेद किया है। उसका मानना है कि ब्राह्मणों को भी कम दंड मिलना चाहिए। कौटिल्य का मानना है कि धन का निर्धारण अपराध, अपराध की परिस्थितियों, वर्ण, लिंग के आधार पर किया जाना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य ने तीन प्रकार के दंड बताए हैं।

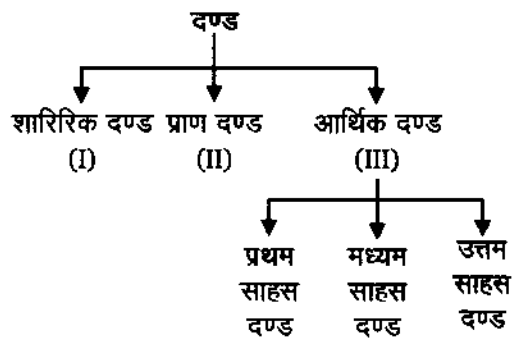

1. शारीरिक दंड: शारीरिक दंड में वह कीडे मारने, अंगछेदन, हाथ–पैर बांधकर उल्टा लटकाने, आदि को सम्मिलित किया गया है। इसमें मुख्य रूप से बेंत मारना, थप्पड मारना, नाखुन में सूई चुभाना, घी पिलाकर धूप में या आग के पास बैठाना, जाडे की रात में गीले बिस्तर पर सुलाना सम्मिलित हैं।

2. प्राण दण्ड: कौटिल्य ने विभिन्न अपराधों के लिए प्राण दंड का भी प्रावधान बताया है। यदि झगड़े में किसी की मृत्यु हो गई हो तो दूसरे को प्राण दंड दिया जाना चाहिए। बलात्कार करने, जीब काटने वाले, सेंध लगाकर चोरी करने, हाथी घोड़े को नुकसान पहुंचाने वाले को भी प्राण दंड दिया जाना चाहिए। माता–पिता पुत्र भाई आचार्य के हत्यारे को भी प्राण दंड दिया जाना चाहिए।

3. आर्थिक दंड: कौटिल्य ने आर्थिक दंड को तीन भागों में बांटा है:

(i) प्रथम साहस दंड

(ii) मध्यम साहस दंड

(iii) उत्तम साहस दंड

(i) प्रथम साहस दंड: प्रथम चरण में 48 से 96 पण तक का जुर्माना लगाने की व्यवस्था इसके अंतर्गत आती है।

(ii) मध्यम साहस: मध्यम शासन के अंतर्गत 200 से 500 पण के जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

(iii) उत्तम साहस: इसमें 500 से 1000 पण तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

विशेष

- **कारागार अथवा जेल:** कौटिल्य ने अपराधियों के लिए जेल की भी व्यवस्था की है। उसकी मान्यता है कि यदि कोई ब्राह्मण राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करें तो उसे आजीवन के लिए कैद में डाल देना उचित है। कारागाह में वह स्त्री पुरुष के लिए अलग–अलग स्थान दिए जाने को उचित मानता है। कौटिल्य ने शुभ अवसरों पर कैदियों को मुक्त करने की व्यवस्था भी बतायी है जो उसके मानवीय दृष्टिकोण को दर्शाता था। उसने आगे स्पष्ट किया है कि विजय पर, राजकुमार के राज्यअभिषेक के समय, राजपुत्र के जन्म उत्सव पर कैदियों को मुक्त कर देना चाहिए।
- **राज्य अधिकारियों के लिए दंड:** उसका मत था कि प्रत्येक राज्य अधिकारियों को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। यदि कोई अधिकारी नियमित आय को कम दिखाता है तो वह राजधर्म का अपहरण करने के समान ही है। जिस कारण उसे दंडित करना चाहिए। यदि कोई अधिकारी राजकोष में अधिक धन जमा कराता है तो उसकी भी जांच करा कर उसे भी दंडित करना चाहिए।
- **वेश्यावृत्ति के लिए दंड:** वह स्पष्ट किया है कि यदि कोई पुरुष कामना रहित महिला से शारीरिक संबंध बनाता है तो उसे उत्तम दंड देना चाहिए।

गुप्तचर सम्बन्धी विचार

कौटिल्य ने गुप्तचर को प्रशासन का महत्वपूर्ण हिस्सा माना था। उसकी मान्यता यह थी कि बगैर प्रभावी गुप्तचर व्यवस्था के एक सुरक्षित, प्रगतिशील राज्य का निर्माण कदापि नहीं किया जा सकता है। भारत में प्राचीन काल से ही गुप्तचर व्यवस्था पर अत्याधिक बल दिखायी पडता है। रामायण तथा महाभारत में गुप्तचर व्यवस्था का विस्तृत वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने सर्वप्रथम गुप्तचर व्यवस्था को

स्थापित किया। उसने गुप्तचरों के प्रकार, कार्य तथा भूमिका का विस्तृत रूप से अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में वर्णित किया। उसने मुख्य रूप से दो प्रकार के गुप्तचरो का वर्णन किया है:

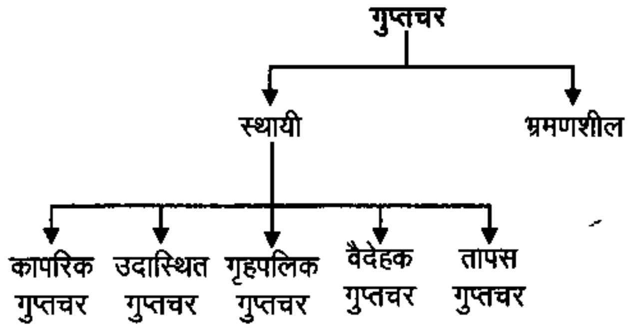

1. स्थायी गुप्तचर

2. भ्रमणशील गुप्तचर

(I) स्थायी गुप्तचर: कौटिल्य ने स्थाई गुप्तचरों को पांच भागों में बांटकर बताया है:

कापरिक गुप्तचर: ये दूसरों के रहस्य को जानने वाले एवं दबंग किस्म के गुप्तचर होते है। ये सामान्यत: विद्यार्थी की वेशभूषा में रहते हैं।

उदास्थित गुप्तचर: यह सन्यासी रूप में रहने वाला बुद्धिमान तथा सदाचारी गुप्तचर होता है।

गृहपलिक गुप्तचर: यह गरीब किसान के वेश में रहने वाला एक बुद्धिमान गुप्तचर होता है।

वैदेहक: गरीब व्यापारी के वेश में बुद्धिमान गुप्तचर को वैदेहक कहा गया है।

तापस गुप्तचर: जीविका के लिये सिर के बाल साफ कराकर अथवा जहां रख राजा का कार्य करने वाले गुप्तचर को तापस गुप्तचर कहा गया है। ये सामान्यत: विद्यार्थियों के साथ नगर के पास आश्रम बना कर निवास करते हैं।

(II) भ्रमणशील गुप्तचर: ये एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर कार्य करते हैं। अत: इन्हें भ्रमणशील अथवा संचार गुप्तचर कहते हैं।

कौटिल्य ने कुछ अन्य प्रकार के गुप्तचरों का वर्णन भी किया है जो निम्नवत हैं।

- **तीक्ष्ण गुप्तचर:** ये वे गुप्तचर होते है जो धन के लिये बड़े जोखिम तक उठा लेते है। वे हाथी, बाघ, सांप आदि से भी भिड़ जाते है। इन्हें तीक्ष्ण गुप्तचर कहते हैं।
- **रसद गुप्तचर:** अपने निकट संबंधियों से संबंध न रखने वाले व कठोर एवं क्रूर स्वभाव के गुप्तचर को रसद (विष देने वाला) गुप्तचर कहा जाता है।
- **परित्राजिका गुप्तचर:** धन की इच्छुक ऐसी स्त्री जो अमात्यों के घर जाती हैं, दबंग अथवा ब्राह्मणी हो तथा रनिवास में सम्मान प्राप्त हो, को परित्राजिका गुप्तचर कहा जाता है।
- **उभयवेतन भोगी गुप्तचर:** यह दोहरा वेतन पाने वाले, दूसरे राज्यों की गतिविधियों का पता लगाने वाले गुप्तचर होते है। ये दूसरे राज्य में जाकर नौकरी करते है और दोहरा वेतन प्राप्त करते हैं।

- **विषकन्या :** यह वह स्त्री थी जो विष का सेवन कर पाली जाया करती थी। इसे राज्य हित में शत्रु के पास भेजा जाता था। जहां यह अपने सौन्दर्य, यौवन, हावभाव से शत्रु को भोग के लिये तैयार कर लेती थी। उसकी हत्या कर देती थी।

गुप्तचरों के कार्य : कौटिल्य ने गुप्तचरों के प्रमुख कार्य निम्न बताये है:

1. गुप्तचर को उच्चाधिकारियों व अन्य अधिकारियों के आचरण का पता लगाकर राजा को सूचित करना चाहिए।

2. यदि कोई कर्मचारी विद्रोही प्रवृति का है तो गुप्तचरों द्वारा उसकी सूचना तत्काल राजा को देनी चाहिए।

3. ऐसे षड्यत्रों की सूचना राजा को देना जो राजा के विरूद्ध प्रजा द्वारा रचे गये हो। गुप्तचर का एक प्रमुख कार्य है।

4. जनता के मनोभावों को पढ़ना तथा अंसतोष के कारणों को राजा के समक्ष प्रस्तुत करना भी गुप्तचर का कार्य है। कौटिल्य के शब्दों में **"राज्य में कर्मचारियों एवं प्रजा की शत्रुता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाए। राजा धन एवं मान द्वारा गुप्तचरों को संतुष्ट रखे।"**-उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पूर्ण किया है।

● युद्ध संबंधी विचार

कौटिल्य ने महाभारत तथा मनुस्मृति के समान युद्ध सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया है। कौटिल्य ने युद्ध के अवसर, युद्ध के औचित्य, युद्ध के नियमों व युद्ध क्रिया आदि सभी पक्षों पर गहन प्रकाश डाला है। युद्ध को कौटिल्य ने अन्तिम विकल्प माना है। कौटिल्य ने साहसपूर्वक युद्ध करना क्षत्रिय का आवश्यक कर्तव्य माना है। कौटिल्य राजा को आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने से संकोच नहीं करने का परामर्श देते हैं, किन्तु वह राजा से यह अपेक्षा भी अवश्य करते है कि युद्ध का परामर्श करने से पूर्व वह सारी स्थितियों को भली–भाँति आंकलित कर ले तथा सारी परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर ही युद्ध करें।

- **युद्ध के प्रकार**–कौटिल्य ने चार प्रकार के युद्धों के उल्लेख किया है।

1. **प्रकाश युद्ध**–कौटिल्य के अनुसार देश काल और पराक्रम को निर्दिष्ट करके जो युद्ध किये जाते है, वह प्रकाश युद्ध है।

2. **कूट युद्ध**–छल कपट द्वारा भय उत्पन्न करना. दर्गों को ध्वस्त करना, लूटमार, अग्नि दाह, अस्व ग्रस्त शस्त्रु पर आक्रमण, अथवा एक स्थान पर युद्ध स्थगित कर, अन्य स्थान पर छल से प्रहार करना आदि सब कूट युद्ध के अंतर्गत आते हैं।

3. **तृष्णी युद्ध**–विष, औषधि आदि के प्रयोग व गूढ–पुरूषों द्वारा शत्रु का वध करना कौटिल्य के अनुसार तृष्णी युद्ध के लक्षण हैं।

4. **माया युद्ध**–माया युद्ध के अन्तर्गत कौटिल्य ने मख्यत: छल–कपट द्वारा शत्रु की पराजय के लिये किये जाने वाले कार्यों का वर्णन किया है।

- **युद्धरत पक्षों की मर्यादाएँ**– यद्यपि कौटिल्य ने युंद्ध के नियमों का व्यवस्थित व विस्तृत विवेचन नहीं किया है, परन्तु उन्होंने युद्ध के दौरान युद्धरत पक्षों द्वारा मर्यादित व्यवहार किये जाने पर पुरजोर बल दिया है।

- **असैनिक और युद्ध**–कौटिल्य ने राजा से अपेक्षा की है कि युद्ध में असैनिकों को पीड़ित कदापि न किया जाये। वे विजित राज्य में अत्यधिक लूटमार व विध्वंस के विरूद्ध भी हैं। उनका मत है कि विजिगीषु राजा को विजित राज्य में उन धर्मयुक्त आचार व्यवहारों का प्रचार करना चाहिए जिनका अब तक वहाँ दूर–दूर तक अभाव था। कौटिल्य के मत में विजेता राजा को विजित राज्य में रह रहे धर्मनिष्ठ लोगों को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा धर्मयुक्त आचार व्यवहारों व अधर्म में प्रवृत्त लोगों पर नियंत्रण के लिए निरंतर यत्नपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।
- **आहत सैनिक**–कौटिल्य ने युद्ध के दौरान घायल सैनिकों पर प्रहार न किये जाने तथा उन्हें चिकित्सा सुविधाएँ दिये जाने को आवश्यक माना है।
- **विजेता राष्ट्र का विजित राष्ट्र के प्रति दृष्टिकोण**– कौटिल्य ने युद्ध के पश्चात् विजित राज्य के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में विजेता राजा को महत्वपूर्ण निर्देश दिये हैं। जो निम्नवत हैं।

1. विजेता को पराजित शत्रु के दोषों को अपने गुणों से, और उसके गुणों को अपेक्षाकृत अधिक गुणों से ढक देना चाहिए। साथ ही उसके गूढ़ पुरूषों का इस प्रकार प्रचार करना चाहिए जिससे प्रजा वर्ग की निष्ठा अपने भूतपूर्व शासक से हटकर, विजेता के प्रति स्थानान्तरित हो जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु देश, ग्राम, जाति तथा संघ मुख्यों में पराजित राजा के दुर्गुणों तथा अपने स्वामी की उदारता एवं शील स्वभाव का निरन्तर प्रचार किया जाना चाहिए।

2. विजित राज्य की जनता के आचार संहिता, सामाजिक व सांस्कृतिक मान्यताओं व रीति–रिवाजों को सम्मान प्रदान किया जाना चाहिए।

3. विजित राज्य के उत्सवों, को पूर्वरूपेण ग्रहण करना चाहिए।

4. करों में छूट, अनुग्रह तथा धन–सम्मान आदि प्रदान करके वहाँ की जनता को सम्मानित और पुरस्कृत किया जाना चाहिए।

5. दीन व अनाथ व्यक्तियों को अनुग्रहीत किया जाना चाहिए।

कौटिल्य ने विजेता राज्य को विजित राज्य के प्रति व्यवहार करने में सावधानी व सतर्कता बरतने का परामर्श दिया है। उसके अनुसार शत्रु के कर्मचारियों को प्रतिज्ञानुसार, धन, मान व सम्मान आदि देकर संतुष्ट कर देना चाहिए। शत्रु के उपकृत मंत्री, पुरोहित, सेना प्रमुख आदि तथा चोर प्रकृति के लोगों को एक साथ कदापि नहीं रहने देना चाहिए। शत्रु पक्षीय व्यक्तियों को जिनसे विरोध का भय या आशंका प्राय महसुस हो, समुचित दंड दिया जाना चाहिए। स्वदेश के नागरिकों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

● दूत व्यवस्था

कौटिल्य ने दूतों की नियुक्ति, उनके सामान्य और विशिष्ट कार्यों, तथा दूतों को प्राप्त विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों का विस्तृत विवेचन अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में किया हैं। कौटिल्य ने दुतों को राजा का मुख माना है। कौटिल्य की मान्यता है कि यदि दूत के समक्ष प्राणों का संकट भी उपस्थित हो जाये तो भी उसे राजा के संदेश को यथार्थ रूप में दूसरे राजा के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। कौटिल्य ने राजा को परामर्श दिया है कि उसे दूत की नियुक्ति अत्यंत सतर्कतापूर्वक करनी चाहिए। उनका मत है कि नियुक्ति किये जाने वाले व्यक्ति की योग्यता और निष्ठा का भली–भाँति परीक्षण कर लेने के उपरांत तथा मंत्रियों से मंत्रणा कर, उनकी सहमति प्राप्त कर लेने के पश्चात ही राजा को दूत की नियुक्ति करनी चाहिए।

1. **दूतों की श्रेणियाँ**– कौटिल्य ने दूतों की तीन श्रेणियां बताई है–

1. निसृष्टार्थ
2. परिमितार्थ,
3. शासनहार

1. निससृष्टार्थ–ऐसा दूत जिसमें अमात्य के सब गुण विद्यमान हों, और जो अमात्य की स्थिति रखता हो निससृष्टार्थ कहलाया। इसे विदेशी राजा से संधि आदि करने के पूर्ण अधिकार भी प्राप्त रहते थे।

2. परिमितार्थ–इसमें अमात्य के लिए आवयक गुणों का एक चौथाई भाग होता था। इस दूत को किसी निश्चित मामले में समझौता करने का अधिकार प्रदान किया जाता था, और वह ऐसा ही समझौता कर सकता था जिसका उसे आदेश दिया गया हो।

3. शासनहार–कौटिल्य ने इस श्रेणी के दूत की स्थिति अन्य दो से हीन मानी है। यह केवल शासकीय सन्देश को पहुँचाने का ही कार्य करता था। उसे स्वयं कोई समझौता या संधि करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता था।

2. दूतों की योग्यताएं–कौटिल्य ने दूतों की योग्यताओं के विषय में विस्तृत विवेचन तो नहीं किया है, परन्तु यथा प्रसंग दूतो के लिए आवश्यक कतिपय गुणों का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने निसृष्टार्थ दूत के लिए वही गुण आवश्यक माने हैं जो अमात्य से अपेक्षित है। कौटिल्य ने दूत में साहस, निर्भिकता, अहंकार रहित व्यवहार, मदपान जैसे व्यसनों के प्रति अनासक्ति, परिस्थितयों को पहचानने की क्षमता आदि गुणों का होना आवश्यक माना है।

3. दूतों के कार्य– अर्थशास्त्र में दूत का प्रमुख कार्य संधि विग्रह से सम्बन्धित माना गया है। दूत के कार्यों में कौटिल्य ने प्रमुखतः निम्नलिखित की व्याख्या की है।

1. शत्रु देश से वन रक्षक, सीमा रक्षक, नगर निवासियों तथा जनपदवासियों से परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना।

2. सेनाओं के ठहरने योग्य युद्ध भूमि और अवसर आने पर अपनी सेना के भाग सकने योग्य उपयुक्त स्थानों तथा रास्तों का पता लगाना।

3. शत्रु राजा के दुर्ग, उसके राज्य की सीमाओं, आमदनी, उपज, आजीविका के साधनों राष्ट्र रक्षा के तौर तरीकों, वहां के गुप्त भेदों एवं वहाँ की बुराइयों का पता लगाना।

4. शत्रु पक्ष के कर्मचारियों को अपने पक्ष में मोड़ लेने के कार्य, तथा विरोधी पक्ष को वश में कर लेने के कार्यों को गुप्तचरों द्वारा किए जाने चाहिए। उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कौटिल्य ने दूतों के मुख्य कार्य निम्नलिखित बताए है।

1. प्रेषण–अपने राजा के संदेश को गंतव्य तक पहुँचाना।

2. संधिपालत्व–संधियाँ करना, और यह ध्यान रखना कि उनका यथोचित रूप से पालन किया जाए।

3. प्रताप–अवसर के अनुसार विदेशी राजा को चुनौती देकर अपने कर्तव्य का पालन करना।

4. **मित्र संग्रह**–जिन राज्यों से शत्रुता हो उनमें परस्पर मित्रता करवाना।

5. **सुह्रद भेद**–जिन दो राज्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हों, उनमें परस्पर विग्रह करवाना।

6. **उपजाप**–विदेशी राज्यों में षड्यंत्र कराकर उन्हें हड़पना।

7. **चार ज्ञान**–विदेशी राज्यों के गुप्तचरों की गतिविधियों का निरन्तर पता रखना।

8. **पराक्रम**–आवश्यकता पड़ने पर स्वयं का पराक्रम प्रदर्शित करना।

9. **समधिमोक्ष**–जिस विदेशी राज्य के साथ जो सम्बन्ध विद्वमान हों, उन्हें भंग कर नए सम्बन्ध स्थापित करना।

4. **दूतों की कार्य पद्धति**– कौटिल्य की मान्यता है कि दूतों को गूढ़ पुरूषों की भाँति गुप्त रूप से नहीं वरन जिस राज्य में भेजा गया है उसके शासन की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात ही उसकी सीमा में प्रवेश करना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि दूसरे राजा के सम्मुख उपस्थित होकर दूत को उसके अन्तर्भाव को समझने की चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि दृष्टि से ही उसकी प्रसन्नता व अप्रसन्नता का आभास मिल जाता है। कौटिल्य के अनुसार यदि दूसरे राजा की वाणी में, दृष्टि में, मुद्रा में, प्रसन्नता झलकती हो, वह दूत की बातों को आदरपूर्वक सुन रहा हो, दूत को प्रश्न करने या अभीष्ट को प्रकट करने की स्वतंत्रता दे रहा हो, दूत के स्वामी राजा के कुशल क्षेम तथा गुणों के की प्रति उसकी उत्सुकता हो, दूत को वह आदरपूर्वक समीप ही बैठाता हो, राजकीय उत्सवों पर दूत को भी स्मरण करे और दूत के प्रत्येक कार्य पर उसे विश्वास हो, तो समझना चाहिए कि वह उस पर पूर्णतः प्रसन्न है। कौटिल्य के मत में यदि दूत इसके विपरीत आचरण देखे तो उसे समझ लेना चाहिए कि दूसरा राजा उस पर रूष्ट है। कौटिल्य ने दूत को परामर्श दिया है कि वह रूष्ट राजा को यह कह कर उसके क्रोध को शांत करने का प्रयास करे कि आप सर्वश्रेष्ठ शासक है।

5. **दूतों के विशेषाधिकार एवं उनमुक्तियाँ**– कौटिल्य की मान्यता है कि दूत परराष्ट्र में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करता है, अतः जब राजा परराष्ट्र में अपने दूत को भेजे, तब उसके लिए धन, वाहन आदि का समुचित प्रबंध भी अवश्य करना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार शासन द्वारा दूत से न तो नदी पार करने का शुल्क लिया जाना चाहिए और न उसे और उसके अनुयाइयों को असमय में अथवा घाट के अतिरिक्त अन्य स्थानों से नदी पार करने के लिए दण्डित किया जाना चाहिए।

● मंत्री परिषद अथवा अमात्य संबंधी विचार

कौटिल्य ने अपनी रचना अर्थशास्त्र में राजा के लिये मंत्रीपरिषद की आवश्यकता पर बल भी दिया है। उनकी मान्यता थी कि राजा एक रथ है जैसे रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता के बिना अकेला राजा राज्य का संचालन कदापि नहीं कर सकता। अतः राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह योग्य अमात्यों का चुनाव करे। कौटिल्य प्रत्येक कार्य के संचालन पर सद्‌भावना पर विशेष ध्यान देता है। महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार पशु बादलों पर, ब्राह्मण वेदों पर, पत्नी पति पर निर्भर करती है, उसी प्रकार राजा भी मंत्रीपरिषद पर पूर्णतः निर्भर करता है। मनु ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर काफी बल दिया है। कौटिल्य ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया। मंत्रीपरिषद का निर्माण मंत्रीपरिषद के गठन में कौटिल्य का सर्वाधिक जोर अमात्यों का योग्यता पर है। इसके लिये उसने अत्यंत कठोर नियम एवं मापदण्ड तय किये हैं। उसका मानना है कि क्षमतावान,

योग्य और बिना दाग का व्यक्ति को मंत्रीपरिषद में स्थान दिया जाना चाहिए। बेनी प्रसाद द्वारा इस विषय में कहा गया है कि **"कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक , व्यक्तिगत जीवन, बौद्विक चातुर्य, उचित निर्णय, कर्तव्य की उच्च भावना, लोकप्रियता मंत्रीपरिषद के लिये आवश्यक योग्यतायें होने चाहिए। मंत्रीपरिषद में मन्त्रियों की संख्या कितनी होगी उसका आकार क्या होगा इस पर कौटिल्य स्पष्ट राय नहीं रखते।"** मनु ने अमात्यों की संख्या 12, वृहस्पति ने सोलह, शुक्राचार्य ने बीस मन्त्रियों की संख्या सुझायी है। कौटिल्य इस संख्या के संदर्भ में मौन है। वह कार्य के अनुपात तथा योग्यता के आधार पर संख्या निश्चित करने पर पुरजोर बल देता है।

अमात्यों की नियुक्ति: इस संबंध में उसने सबसे पहले विभिन्न आचार्यों के मत प्रकट किये। कौटिल्य ने आचार्य भारद्वाजक, विशालरक्ष, पराशर, वाटव्याधि और बाहुदंतीपुत्र के विचारों का विश्लेषण किया। कौटिल्य की मान्यता थी कि विद्या, साहस, गुण, दोष, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्त करें। कौटिल्य की मान्यता थी कि अर्थशास्त्र के विद्वान, बुद्धिमान, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, उत्साही, प्रभावशील, सहिष्णु, पवित्र, स्वामीभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान और द्वेषवृत्ति रहित पुरूष ही अमात्य पद के योग्य है।

अमात्यों के आचरण की परीक्षा: कौटिल्य ने अमात्यों के आचरण की समीक्षा पर भी विशेष बल दिया। कौटिल्य का मत है कि धर्म, अर्थ, काम तथा भय के आधार पर अमात्यों के आचरण का समय–समय पर परीक्षण करना चाहिए। उक्त चारों कसौटियों पर सफल होने के बाद ही अमात्य को मंत्रीपरिषद में नियुक्त करना चाहिए।

मंत्रणा एवं गोपनीयता: उसकी मान्यता थी कि मंत्रणा का गोपनीय न होना राजा एवं मंत्रीपरिषद के लिये घातक होता है। जिस प्रकार कछुआ पूर्णतः अपने कवच को समेटे होता है और केवल आवश्यकता होने पर उससे बाहर निकलता है। उसी प्रकार भी मंत्रणा पूर्णतः गोपनीय होनी चाहिए। मंत्री की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि मंत्रणा का स्थान अत्यंत सुरक्षित हो। राजा एवं अन्य मंत्री इतने संयमित और विचारमान हो कि किसी भी चेष्ठा से भी गोपनीयता कदापि भंग न हो। मंत्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिए जहां पक्षी भी झांक न सके तथा आवाज बाहर न जाये। कौटिल्य का मत था कि मंत्रणा सदैव तीन–चार लोंगो के साथ की जानी चाहिए क्योंकि एक ही व्यक्ति से बार–बार मंत्रणा करने से कई बाद संदेह एवं कठिन प्रश्न का सही हल नहीं निकल पाता है। इसमें कई बार संबंधित मंत्री प्रतिद्वन्द्वी के रूप में कार्य करने लगता है। कौटिल्य तीन से चार मंत्री रखने का पक्षधर है। इससे अधिक मंत्री होने पर प्रायः सुरक्षा एवं अनिर्णय की समस्या उत्पन्न होती है।

मंत्रीपरिषद के कार्य: कौटिल्य के अनसार मंत्रीपरिषद के निम्न कार्य है:

1. राजा को सटीक परामर्श देना।

2. संकट के समय राजा की पूर्णतः रक्षा करना।

3. राजा को भ्रष्ट व अनैतिक कार्यों से बचाना।

4. राजा के गुप्त भेदों को किसी के समक्ष किसी भी अवस्था में उजागर न करना।

5. राजा की मृत्यु का समाचार भी राज्य से बाहर न जाने देना।

☛ **विशेष**

- **राजा एवं मंत्रीपरिषद का संबंध :** राजा एवं मंत्रीपरिषद के संबंधों के विषय में कौटिल्य का विचार है कि राजा सामान्यतः मंत्रीपरिषद के बहुमत के आधार पर ही कार्य करें। इसके साथ ही यदि परामर्श उचित न हो तो वह स्वविवेक से निर्णय ले सकता है। कौटिल्य ने आगे यह भी स्पष्ट किया है कि अयोग्य, अर्कमण्य, विलासी राजा होने पर उस पर मंत्रीपरिषद का नियन्त्रण आवश्यक है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। जब बौद्ध धर्म के प्रति अति श्रद्धालु राजा अशोक ने बौद्ध संघों को अंधाधुध दान देना शुरू कर दिया और राजकोष खाली होने लगा तो मंत्रियों ने युवराज के साथ मिलकर महान अशोक को ऐसा करने से रोका था। कौटिल्य ने स्वयं मौर्य साम्राज्य के महामंत्री के रूप में जिस प्रकार कार्य किया उसमें भी महामंत्री एवं मंत्रीपरिषद की भूमिका का महत्व स्पष्ट होता है।

मंत्रिपरिषद् की संरचना

कौटिल्य ने राजा को परामर्श देने के लिये एक संस्था के रूप में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में एक निश्चित व व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी प्रतिपादन किया है कौटिल्य का मत है कि मंत्रिपरिषद् की सदस्य की संख्या को चार तक सीमित रखने का तार्किक औचित्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक ही मंत्री होने पर, राजा मंत्री से मतभेद होने पर ठीक–ठीक निश्चय नहीं कर पाता है तथा ऐसी स्थिति में वह उच्श्रृंख्ल हो सकता है। दोनों मंत्री आपस में मिल जाएँ और राजा को अनुचित परामर्श देने लगें तो राजकीय कार्य की गंभीर हानि हो सकती है। कौटिल्य की मान्यता है कि यदि तीन या चार मंत्री नियुक्त किये जाएंगे तो इस प्रकार की कठिनाइयों के उत्पन्न होने की आशंका कम होगी, तथा राजकीय कार्य ठीक ढंग से संचालित किये जा सकेंगे। कौटिल्य मंत्रिपरिषद् में चार से अधिक मंत्री रखे जाने के पक्ष में नहीं है, क्योंकि मंत्रियों की संख्या अधिक रहने पर मंत्र (परामर्श व विचार–विमर्श) की गोपनीयता भंग होने का खतरा हो जायेगा। कौटिल्य ने राजा को मंत्रिपरिषद् में लगभग चार मंत्री नियुक्त करने का सामान्य परामर्श देते हुए भी, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में राजा को परिस्थिति और आवश्यकतानुसार व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी है। कौटिल्य ने योग्यता के आधार पर मंत्रियों की तीन श्रेणियाँ स्वीकार की हैं–

उत्तम
↓
मध्यम
↓
क्षुद्र

मंत्रियों के लिये अपेक्षित सारी योग्यताओं से युक्त व्यक्तियों को कौटिल्य ने उत्तम मंत्री, उनमें से तीन चौथाई गुणों से युक्त व्यक्तियों के मध्यम मंत्री, और आधे गुणों से युक्त व्यक्तियों को क्षुद्र मंत्री की श्रेणी में रखा है। मंत्रियों के उपर्युक्त वर्गीकरण से यह संकेत मिलता है कि मंत्रियों की सभा में कौटिल्य की सभा में कौटिल्य के अनुसार तीन श्रेणियों के मंत्री सम्मिलित होते थे। राजा नीति के व्यापक प्रश्नों पर अथवा सामान्य कार्यों में मंत्रियों की सभा से परामर्श कर सकता था, वहीं जटिल कार्यों के संदर्भ में या कोई कठिन समस्या उत्पन्न हो जाने पर वह उत्तम श्रेणी के मंत्रियों से गठित मंत्रिपरिषद् को परामर्श के लिये आमन्त्रित कर सकता था। कौटिल्य ने मंत्रियों की सभा में मंत्रियों की निश्चित संख्या निर्धारित करने की अपेक्षा शासक को परामर्श दिया है कि वह कार्यकुशलता और गोपनीयता की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए जितनी संख्या आवश्यक हो, विभिन्न श्रेणियों के मंत्रियों की नियुक्ति करे। इस सम्बन्ध में

कौटिल्य ने मनु, बृहस्पति व शुक्राचार्य के मतों का उदाहरण देकर यह सपष्ट किया है कि ये आचार्य मंत्रिसभा में क्रमशः 12, 16, 20 मंत्रियों की नियुक्ति को उचित मानते हैं, किन्तु कौटिल्य का मत है कि समय और परिस्थियों के अनुरूप राजा को मंत्रियों की संख्या निर्धारित करनी चाहिए।

मंत्रियों से परामर्श का क्षेत्र व प्रक्रिया

कौटिल्य ने पाँच प्रकार के विषयों में राजा को मंत्रियों से आवश्यक रूप से परामर्श करने का निर्देश प्रदान किया है।

1. राजकीय कार्यक्रमों की रूपरेखा का निर्धारण तथा उन्हें प्रारंभ करन के उपाय हेतु।

2. उच्च पदों पर नियुक्ति व कर आरोपित करने के सिद्धान्त हेतु।

3. राज्य में पड़ोसी राज्यों से विद्यमान स्थितियों व परिस्थियों का मूल्याकन करने हेतु।

4. राज्य के समक्ष संकट उपस्थित हो जाने पर संकट से निकलने के उपाय हेतु।

5. राजकीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिये सामान्यतः अपनाई जाने वाली नीति हेतु।

मंत्रियों के परामर्श देने के क्षेत्र में उपर्युक्त पाँच आयामों को कौटिल्य ने मंत्र के अंगो की संज्ञा दी है। मंत्र के इन पाँच अंगों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य शासन के समस्त महत्त्वपूर्ण कार्यों यथा नीति–निर्धारण, योजना निर्माण नियुक्तियों, शांति व युद्ध आदि से मंत्रियों के परामर्श को आवश्यक मानते हैं। कौटिल्य ने राजा को विषय के अनुसार मंत्रियों से अलग–अलग या सामूहिक रूप से परामर्श लेने का सुझाव दिया है। किन्तु कौटिल्य यथा–संभव मंत्रियों से सामूहिक परामर्श का ही सुझाव देते हैं। कौटिल्य का सुझाव है कि यदि कोई मन्त्री अनुपस्थित हो, या राजदरबार से बाहर हो तो राजा पत्र के माध्यम से उससे उचित परामर्श प्राप्त कर सकता है। कौटिल्य का मत है कि राजा को मंत्रियों द्वारा कहे गए कथनों का विवेकपूर्ण विवेचन कर लेना चाहिए तथा न तो मंत्रण को ज्यादा लम्बा खींचना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यदि मंत्रिपरिषद् में किसी प्रश्न पर सर्वसम्मति न हो तो राजा को बहुमत के आधार पर निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कौटिल्य निर्णय–प्रक्रिया को पूर्णतः लोकतांत्रिक बनाने के पक्ष में हैं। कौटिल्य ने राजा को स्पष्ट परामर्श दिया है कि वह किसी मंत्री से अपनी निकटता के आधार पर उसके परामर्श को स्वीकार न करे, अपितु मंत्री के परामर्श के गुण–दोष का विवेचन कर उपयुक्त निर्णय करे।

मंत्रियों के दायित्व

कौटिल्य ने शासन के लिये 'मंत्र' या उत्तम परामर्श को सफलता का सबसे महत्वपूर्ण आधार माना है। शासन को मंत्रियों के महत्व के सम्बन्ध में सचेत करते हुए कौटिल्य ने कहा है किमंत्रियों के परामर्श से विमुख रहने वाला राजा शत्रु के चंगुल में शीघ्र फँस जाता है, तथा मंत्रियों के परामर्श से चलने वाला शासक अपने राज्य में वृद्धि करता है। निर्भीक होकर सभी विषयों में शासक को उचित परामर्श देना, कौटिल्य मंत्रियों का प्रमुख दायित्व मानते हैं। कौटिल्य की मान्यता है कि यदि मंत्री निर्भीकतापूर्वक राज्य के हित में निजी हानि–लाभ पर विचार किये बिना शासक को उचित परामर्श नहीं देगा तो राज्य के नष्ट होने की आशंका अधिक उत्पन्न हो जायेगी। कौटिल्य ने कहा है कि जब शासक उचित या अनुचित का निर्णय लेने में स्वयं समर्थ नहीं होता, या भ्रम में फंस जाता है तो मंत्रियों का उचित परामर्श ही उसे दीपक के समान प्रकाशित करता है। कौटिल्य ने राजकीय कार्यों में मंत्रियों की भूमिका में पाँच सन्दर्भों को स्पष्ट किया है।

1. राजा द्वारा निर्णय लिये जाने के लिये, विषयों को पूर्णता के साथ और सही सन्दर्भ में प्रस्तुत करना।

2. विचारों के लिये उपस्थित हुए विषय में निर्णय करने में राजा की हर प्रकार से सहायता करना।

3. राजा द्वारा यदि कोई निर्णय कर लिया गया हो, तो उनका मूल्यांकन करके उस निर्णय की पुष्टि करना अथवा खण्डन करना ताकि मंत्री के परामर्श से आश्वस्त होकर राजा दृढतापूर्वक निश्चय कर सकें।

4. यदि किसी बिन्दु पर मतभेद हो तो इस प्रकार का परामर्श देना कि कोई संशय कदापि न रह पाए।

5. राजकीय निर्णयों का पूर्णतः क्रियान्वित करना।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य राजकीय कार्यों में मंत्रियों की महत्वपूर्ण व निर्णायक भूमिका को स्वीकारता हैं। मंत्रियों के दायित्वों की परिधि शासक के समक्ष निर्णय के लिये सूचनाएँ प्रस्तुत करने, समुचित परामर्श देने तथा अन्ततः राजकीय निर्णयों को क्रियान्वित करवाने तक विस्तृत है।

मन्त्रियों की योग्यताएँ

कौटिल्य ने मंत्रियों के कार्यों के महत्व के अनुरूप उनके लिये आवश्यक योग्यताओं का विवेचन किया है। मंत्रियों के लिये कौटिल्य ने निम्नलिखित योग्यताओं को आवश्यक माना है।

1. स्वदेश में जन्म

2. विद्वता एवं गंभीरता

3. कार्यकुशलता

4. ओजस्वी वक्तव्य देने की क्षमता

5. उत्साह व प्रभावशीलता

6. अविलम्ब निर्णय ले सकने की क्षमता

7. पवित्र आचरण

8. स्नेह की प्रवृत्ति

9. राजभक्ति

10. शारीरिक व मानसिक क्षमताओं से सम्पन्न होना

11. लोकप्रियता

12. जड़ता एव चपल अभाव

13. अकारण लोगों से बैर मोल लेने की प्रवृत्ति का अभाव

उन्होंने राजा को परामर्श दिया है कि मंत्रियों की नियुक्ति में वह स्नेह, राग–द्वेष या अन्य किसी कारण से प्रभावित होने की अपेक्षा, केवल योग्यता को सर्वोपरि माने। कौटिल्य ने राजा को स्पष्ट निर्देश दिया है कि भय के कारण राजा किसी अशिक्षित, उदण्ड या असदाचारी, अपने सम्बन्धी को भी मंत्री के पद पर

नियुक्त न करे, और ऐसे व्यक्तियों को ही मंत्री पद पर नियुक्ति दे, जो शास्त्रों के विद्वान हों तथा जिनका पवित्र आचरण संदेह से परे हो।

कौटिल्य ने मंत्रियों को उनकी योग्यता, राजभक्ति व जनता के कल्याण के प्रति निष्ठा का भली–भांति परीक्षण के उपरात ही नियुक्त करना उचित माना है। कौटिल्य के अनुसार राजा के मंत्रियों को स्थायी रूप से नियुक्त करने से पहले किन्हीं राजकीय कार्यों राजकीय कार्यों में नियुक्त कर उनकी बुद्धि, स्मरणशक्ति और कुशलता को परख लेना चाहिए। उनके साथ शास्त्रों पर चर्चा कर के उनके बोलने, व्याख्यान करने और शीघ्र उत्तर देने की शक्ति का परीक्षण करना चाहिए, उनके समक्ष कोई परिस्थिति प्रस्तुत कर उनके उत्साह, प्रभाव और सहनशक्ति आदि का परीक्षण करना चाहिए तथा उनके साथ भांति–भांति का व्यवहार करके उनके हृदय की पवित्रता, मित्रता और निष्ठा की परीक्षा लेनी चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने मंत्रियों की योग्यताएँ निर्धारित करते समय मन की भांति मंत्रियों के किसी वर्ण विशेष का सदस्य होना आवश्यक नहीं माना है। जहाँ मनु ने शुद्रों को मंत्री नहीं बनाए जाने का स्पष्ट निर्देश दिया है, उसके विपरीत कौटिल्य ने मंत्री पद पर केवल ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त नहीं किये जाने का निर्देश दिया है जिन्हें राजनीति व अन्य शास्त्रों का समुचित ज्ञान नहीं हो।

☛ **विशेष**

मन्त्रणा की गोपनीयता

- कौटिल्य ने मन्त्रा की गोपनीयता को परम आवश्यक माना है। मन्त्रणा गोपनीय रहे, इस दृष्टि से कौटिल्य ने मन्त्रणा के लिए उपयुक्त समय का चयन आवश्यक माना है। कौटिल्य के अनुसार मन्त्रणा का स्थान इतना सुरक्षित होना चाहिए कि वहाँ होने वाली बात कोई नहीं सुन सके। कौटिल्य की मान्यता है कि मन्त्रणा के स्थान पर पशु–पक्षी भी उपस्थित नहीं होने चाहिए। कौटिल्य ने राजा को सचेत किया है कि उसकी भावभंगिमाओं आदि से भी मन्त्रणा की गोपनीयता प्रकट हो सकती है, अतः राजा को पंत्रिपरिषद से परामर्श करने के उपरांत लिये गए निर्णयों की क्रियान्विति से पूर्व अपनी भाव भंगिमाओं के माध्यम से भी यह प्रकट नहीं होने देना चाहिए कि क्या निर्णय लिया गया। कौटिल्य ने राजा को सतर्क किया है कि कई बार मंत्री भी अपने विश्वास के अन्य लोगों को मंत्रणा के बारे में बता सकते हैं, अतः राजा को मंत्रियों पर भी निगाह रखनी चाहिए, ताकि वे मंत्रणा की गोपनीयता को भंग नहीं कर सकें। मन्त्रणा की गोपनीयता को कौटिल्य राज्य की सुरक्षा व हितों से जुड़ा हुआ बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न मानते हैं। अतः वे मन्त्रणा की गोपनीयता को भंग करने को कठोर दण्डनीय अपराध मानते हैं। मन्त्रणा की गोपनीयता को भंग करने के अपराध के लिये कौटिल्य ने देश से निकाला व मृत्यु–दण्ड जैसे कठोर दण्डों की व्यवस्था की हैं।

मंत्रियों पर नियंत्रण

कौटिल्य की मान्यता है कि यदि मंत्री स्वार्थ से मुक्त रहकर राजा को उसके हित के लिए परामर्श नहीं दे तो राज्य के हितों के समक्ष गंभीर संकट उत्पन्न हो सकता है। अतः कौटिल्य ने राजा को भली–भाँति सुनिश्चित करने का परामर्श दिया है कि उसके मंत्री राज्य के विरूद्ध किसी प्रकार का कोई षड्यंत्र तो नहीं कर रहे हैं अथवा किसी प्रकार के भ्रष्टाचार में तो लिप्त नहीं है। कौटिल्य ने गुप्त उपायों द्वारा अमात्य और मंत्रियों के आचारण का परीक्षण करते रहने का परामर्श दिया है। कौटिल्य ने गुप्तचरों के माध्यम से समय–समय पर अमात्यों की चार प्रकार की परीक्षाओं का उल्लेख किया है, जो निम्नवत हैं।

1. धर्मोपधा – अर्थात् धर्म के द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता का परीक्षण धर्मोपधा कहलाता है।

2. कामोपध्या– अर्थात् स्त्री समागम के अवसर उपस्थित करने के द्वारा उसके चाल चलन का परीक्षण कामोपध्या कहलाता है।

3. अर्थेपधा– गुप्त उपायों द्वारा मंत्री को धन का लोभ दिखाकर उसके आचरण का परीक्षण अर्थेपधा कहलाया।

4. भयोपधा– भयभीत करके शासन के विरूद्ध आचरण करने के लिए प्रेरित करने से द्वारा मंत्री की निष्ठा परीक्षण भयोपधा कहलाया।

कौटिल्य ने राजा को परामर्श दिया है कि वह धर्म, अर्थ, काम और भय द्वारा परीक्षित पवित्र आचरण वाले मंत्रियों को ही उनकी क्षमताओं के अनुसार विभिन्न कार्यों में नियुक्त करें। किन्तु कौटिल्य ने मंत्रियों पर निगरानी रखने के कार्य को अत्यंत सतर्कतापूर्ण किये जाने पर बल दिया है। उनकी मान्यता है कि यदि मंत्रियों को पता चले कि उनके आचरण पर। निगरानी रखी जा रही है, तो वे राजा से अप्रसन्न हो सकते हैं। कौटिल्य ने राजा को यह भी परामर्श दिया है कि वह अपने अन्तरंग मंत्रियों की इस प्रकार से परीक्षा न ले, अपितु निम्न श्रेणी के मंत्रियों की ही परीक्षा लें। उसका मत है कि राजा को अपने अन्तरंग मंत्रियों की नियुक्ति तो पहले से ही भली–भाँति परीक्षा करनी चाहिए तथा एक बार नियुक्ति कर दिये जाने के पश्चात् राजा को उन पर अपने विश्वास का निर्वाह पूर्णतः करना चाहिए।

● प्रशासनिक व्यवस्था

राजा एवं मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त प्रशासनिक व्यवस्था के व्यावहारिक संचालन के संबंध में कौटिल्य ने अपने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य प्रजा प्रेमी राज्य की कल्पना प्रस्तुत करता है। जिसमें शासन का मुख्य उद्देश्य जन कल्याण करना है। यही कारण है कि बड़े कार्यों के संचालन के लिये अनेक प्रशासनिक सहयोगियों की आवश्यकता पर बल देता है। वह राजा को सम्पूर्ण प्रशासन का प्रधान मानता है परन्तु प्रशासन हेतु अठारह (18)अन्य प्रशासनिक अधिकारियों का वर्णन करता है। कौटिल्य ने उन्हें अठारह तीर्थों की संज्ञा दी है। ये अठारह तीर्थ इस प्रकार है:

1. मंत्री: राज्य प्रशासन में राजा के बाद मंत्री का प्रमुख स्थान होता है। वह राजा का सबसे विश्वासप्रस्त व्यक्ति होता है। जो राजा को परामर्श देता है।

2. पुरोहित: राज्य प्रशासन में मंत्री के बाद पुरोहित का स्थान होता है। पुरोहित राजा को धर्म एवं नीति के संबंध में विचार विमर्श देता है।

3. सेनापति: सेनापति की राज्य के प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह सेना का प्रधान होता है। वह सेना का गठन करता है तथा संकट के समय में सेना का संचालन करता है।

4. दौवारिक: दौवारिक राजमहल में रक्षकों का प्रधान होता है। उसी के द्वारा राजा के पास कोई प्रार्थना पत्र पहुंचाया जाता है।

5. अंतर्वेशिक: अंतर्वेशिक राजा का अंतपुर में प्रधान अंगरक्षक होता है। राजा की बीमारी की अवस्था में वह राजा की दिनचर्या से संबंधित सभी कार्यों का संपादन करता है।

6. प्रशास्ता: प्रशास्ता एक पदाधिकारी होता है जो सेना को पूर्णतः नियन्त्रण में रखता है। वह शंति और व्यवस्था के लिये जिम्मेदार होता है।

7. युवराज : युवराज राजा का ज्येष्ठ पुत्र और राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

8. सपाहती : कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था में समाहती को एक महत्वपर्ण स्थान प्राप्त है। उसका स्थान वित्तमंत्री के समान है। उसका मुख्य कार्य वार्षिक बजट प्रस्तुत करना होता है। वह सम्पूर्ण आय.व्यय का लेखा–जोखा, राज्य के आय को बढ़ाने के लिये कर लगाने तथा उसकी वसूली की व्यवस्था करता है।

अठारह तीर्थ
मंत्री
↓
पुरोहित
↓
सेनापति
↓
दौवारिक
↓
अंतर्वैरिक
↓
प्रशास्ता
↓
युवराज
↓
समाहती
↓
सन्निघाता
↓
प्रदेष्टा आयुक्त
↓
नायक
↓
पौर व्यावहारिक
↓
कर्मांतिक
↓

↓
दंडपाल
↓
दुर्गपाल
↓
अंतपाल
↓
आटविक

9. **सन्निधाता:** सन्निधाता राज्य का एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह राजकोष का अध्यक्ष होता है। उसका मुख्य कार्य राजकोष का भलिभांति संग्रह और पर्यवेक्षण करना है।

10. **प्रदेष्टा आयुक्त:** प्रदेष्टा आयुक्त एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह कार्यपालिका तथा न्यायिक दोनों कार्यों का संपादन करता है। उसका मुख्य कार्य अपराधों का दमन करना तथा जो राज कर नहीं देते उनसे कर वसूल करना या दंड देना होता है। ।

11. **नायक:** यह सेना का प्रमुख संचालक होता है। वह एक सैनिक पदाधिकारी होता है।

12. **पौर व्यावहारिक:** पौर व्यावहारिक नगर का न्यायिक पदाधिकारी होता है।

13. **कर्मातिक:** कर्मातिक खान उद्योगों का अधिकारी होता है। वह राज्य के कल कारखाने एवं उद्योगों की देख–रेख करता है।

14. **मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष:** मंत्रीपरिषद का अध्यक्ष प्रधानमंत्री ही होता है इसके अलावा कौटिल्य ने अन्य विभागाध्यक्षों का उल्लेख किया है जो प्रशासन के दृष्टि से आवश्यक होते हैं। इसमें पोतवाध्यक्ष व गणिकाध्यक्ष आदि प्रमुख हैं।

15. **दंडपाल:** यह सेना एवं पुलिस का मुख्य अधिकारी होता है।

16. **दुर्गपाल:** यह दुर्ग का प्रभारी होता है। यह राज्य के समस्त दुर्गों की देखभाल करता है।

17. **अंतपाल या सीमारक्षक:** यह मुख्य अधिकारी होता है जो सीमावर्ती प्रदेशों की रक्षा करता है।

18. **आटविक:** आटविक वन संपति की रक्षा करने हेतु नियुक्त होता है।

प्रशासनिक विभागाध्यक्ष

कौटिल्य ने प्रशासन का विस्तारपूर्वक वर्णन अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में किया है। उसने विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का वर्णन इस प्रकार किया है:

1. **कोषाध्यक्ष:** कोषाध्यक्ष राजकोष का स्वामी होता है। वह कोष को सम्पन्न रखता है। वह विभिन्न विशेषज्ञों की अनुमति से कोष में विभिन्न रत्नों, आभूषणों को भी रखने का अधिकारी होता है।

2. **सीताध्यक्ष:** राज्य में कृषि से प्राप्त अनाज के रूप में कर के संग्रहण का जिम्मेदार होता है। यह इन अनाजों का भंडारण करता है। यह कृषि का जानकार भी होता है।

3. **पण्याध्यक्ष:** पण्याध्यक्ष एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। यह राज्य में क्रय विक्रय वाली वस्तुओं की व्यवस्था करता है।

4. **आयुधागाराध्यक्ष:** आयुधगार का अध्यक्ष युद्ध एवं अस्त्र शस्त्र संबंधी चीजों की व्यवस्था करता है।

5. **पोतवाध्यक्ष:** पोतवाध्यक्ष के पास महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। वह समस्त नापतौल की व्यवस्था का जिम्मेदार होता है।

6. **शुल्काध्यक्ष:** यह वह पदाधिकारी होता है जो राज्य की समस्त शुल्क या चुंगी की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

7. सूत्राध्यक्ष : यह वह पदाधिकारी होता है जो सूत संबधी समस्त व्यवसाय का निर्धारण करता है। यह सूत,रस्सी आदि की निगरानी करता है।

8. सुराध्यक्ष : यह आबकारी विभाग का प्रमुख होता है। यह समस्त मादक पदार्थों जैसे भांग, गांजा, शराब आदि पर नियन्त्रण रखता है।

9. सूनाध्यक्ष : सूनाध्यक्ष के पास वधशाला की जिम्मेदारी होती है। यह पशुओं, मछलियों, पक्षिओं तथा जंगली जानवरों की निगरानी करता है।

10. मुद्राध्यक्ष : यह मुद्रा के निर्माण संचालन के प्रति जिम्मेदार होता है। इसका दायित्व अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है।

11. रथाध्यक्ष : यह रथ सेना का प्रभारी होता है। यह राज्य की सरक्षा के लिये प्रभावी रथ सेना के निर्माण के लिये जिम्मेदार होता है।

12. अश्वाध्यक्ष : यह घोड़ों की रक्षा के लिये कार्य करता है। वह राज्य में अनेक स्थानों पर घड़सालों का निर्माण करवाता है।

13. गजशाला अध्यक्ष : यह हाथियों के सम्पूर्ण प्रबंधन के लिये उत्तरदायी होता है। वह उनकी सुरक्षा , उनके आहार का भी प्रबंध करता है।

14. गणिकाध्यक्ष : इसका कार्य राज्य में गणिकाओं ‌द्धवेश्याओंऋ की निगरानी करना होता है।

15. नौकाध्यक्ष : नौकाध्यक्ष नौकाओं के निर्माण, नौका मार्गों पर उनके निर्बाध संचालन के लिये जिम्मेदार होता है।

16. गोध्यक्ष : यह गोवंश की रक्षा तथा उनके विकास के लिये जिम्मेदार होता है।

17. सुवर्णाध्यक्ष : यह राज्य के अन्दर सोने चांदी के कार्य करने के लिये स्थान बनवाने तथा उनकी निगरानी का कार्य करता है।

18. कोष्ठगाराध्यक्ष : कोष्ठगाराध्यक्ष राज्य में अनाजों के भंडार की व्यवस्था करता है।

19. कप्याध्यक्ष : यह वह पदाधिकारी होता है जो जंगल में उपलब्ध वनस्पितियों एवं अन्य सामग्रियों की रक्षा करता है।

स्थानीय शासन

कौटिल्य ने प्रशासन के सबसे निचले हिस्से पर अर्थात स्थानीय शासन का भी उल्लेख किया है। वह राजा के द्वारा गो, स्थानिक और नगराध्यक्ष आदि अधिकारियों की नियुक्ति का पूर्णतः समर्थन करता है। उसके द्वारा वर्णित प्रमुख स्थानीय प्रशासन के अधिकारी निम्नवत है:

1. गोप : यह स्थानीय शासन का प्रमुख पदाधिकारी था। वह पांच से दस ग्रामों का जिम्मेदार था। इन ग्रामों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी गोप की होती है।

2. स्थानिक : यह गोप के ऊपर स्थापित एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था। जिले के समस्त गोप उसके अधीन थे।

3. नगराध्यक्ष : प्रत्येक नगर का अध्यक्ष नगराध्यक्ष कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने प्रशासन की व्यापक एवं सुचारू व्यवस्था की थी। उसने प्रशासन के प्रत्येक पहलू पर न केवल ध्यान दिया वरन उसके लिये अलग विभाग एवं पदाधिकारी नियुक्त किया। कौटिल्य ने प्रशासन को अनेक भागों में बांटा। कौटिल्य की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में स्थानीय प्रशासन को भी स्थान दिया गया है। वह सत्ता के केन्द्रीयकरण के स्थान पर विकेन्द्रीयकरण का पूर्णतः समर्थक था।

स्थानीय प्रशासन

कौटिल्य ने राज्य की प्रासनिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता पर बल दिया है तथा राज्य को स्थानीय और प्रादेशिक इकाइयों के संगठन का परामर्श दिया है। इन स्थानीय इकाइयों के प्रशासन को कौटिल्य ने क्षेत्रीय अधिकारिया को नियंत्रण में रखा जाना उचित माना है। कौटिल्य ने मुख्यतः दो प्रकार की स्थानीय संस्थाओं का संकेत दिया है।

1. **पुर–** पुर कौटिल्य के अनुसार नगर का ही पर्यायवाची है। नगर को कौटिल्य ने कई भागों में विभक्त कर, उसके प्रत्येक भाग को स्थानिक नाम से अधिकारी के अधीन रखा है। स्थानिक के अधीन कौटिल्य ने गोप नामक अधीनस्थ आधकारी को नियक्ति की अपेक्षा की है तथा प्रतिपादित किया है कि 20 कुटुम्बों के ऊपर एक गोप को नियक्ति का जाना चाहिए। पुर के प्रधान अधिकारी को कौटिल्य ने नागरिक की संज्ञा दी है। नागरिक को नगर के संपूर्ण प्रशासनिक कार्यों नगर में कानून–व्यवस्था के निहित तथा राजकीय कार्यों के लिए व्यवस्थाएँ करने के लिए पूर्णतः उत्तरदायी माना गया है।

2. **स्थानीय प्रशासन की ग्रामीण इकाई–** कौटिल्य ने प्रशासन और राजस्व के संग्रहण की दृष्टि से शासन को ग्रामीण इकाइयों की एक श्रृंखला के रूप में संगठित करने पर बल दिया है। कौटिल्य के अनुसार 100 ग्रामों के बीच एक स्थानीय, दो सौ ग्रामों के समह में एक प्रशासन के विषय में कौटिल्य के विचार मन की भांति व्यवस्थित और स्पष्ट नहीं है। मनु ने स्थानीय प्रशासन की एक क्रमबद्ध श्रृंखला का संकेत देकर, प्रत्येक इकाई का एक–दूसरे से स्पष्ट सम्बन्ध प्रतिपादित किया है, परन्तु कौटिल्य द्वारा इन इकाइयों के प्रशासन की व्यवस्था व इनके पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन नहीं किया है।

राज्य के अधिकारियों पर नियंत्रण

कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकारियों पर समुचित नियंत्रण रखे जाने को प्रशासनिक व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए अत्यंत आवश्यक माना है। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि राजकीय कर्मचारियों में पद व शक्तियों के दुरूपयोग और भ्रष्टचार की प्रवृत्तियाँ सहज ही होती हैं, अतः यदि उन पर समुचित व निरन्तर नियंत्रण नहीं रखा गया हो तो भ्रष्ट हो जाएँगे तथा शक्तियों के दुरूपयोग द्वारा जनता को पीड़ित करने लगेंगे। कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों पर तीन प्रकार के नियंत्रणों की व्यवस्था बतायी है, जो निम्नवत है।

1. समस्त कर्मचारियों के आचरण की गुप्तचरों द्वारा परीक्षा की जानी चाहिए।

2. अधीनस्थ कर्मचारियों पर उन्वस्थ कर्मचारियों द्वारा नियंत्रण रखा जाना चाहिए।

3. शासक द्वारा ऐसी संस्थाओं का गठन जो कर्मचारियों द्वारा किये गये कार्यों की जाँच करती रहें, तथा उनके व्यवहार के प्रति जनता की प्रतिक्रिया का पता लगाती रहें, गठित करनी चाहिए।

कौटिल्य ने प्रशासनिक शक्तियों के दुरूपयोग को अत्यंत गंभीर अपराध माना है तथा ऐसे अपराधों के लिए कर्मचारियों या अधिकारी को कठोर दण्ड देने की भी व्यवस्था की है। प्रशासनिक अपराधों या

भ्रष्टाचार के लिये कौटिल्य ने अपराध की गंभीरता के अनुसार अर्थ दण्ड, कारावास तथा प्राण दण्ड दिये जाने की व्यवस्था की है। कौटिल्य ने राजा से अपेक्षा की है कि वह स्वयं भी प्रशासन के समस्त विभागों के कार्यों की समय–समय पर जाँच करता रहे तथा यह जानकारी प्राप्त करता रहे कि कर्मचारी अपने दायित्वों का पालन सही ढंग से कर रहे हैं या नही। अधिकारियों व कर्मचारियों व कर्मचारियों पर नियंत्रण को सुनिश्चित करने के लिए कौटिल्य ने एक ही पद, और एक ही विभाग में किसी अधिकारी या कर्मचारी को लम्बे समय तक रखने समय तक रखने का विरोध किया है तथा उनके समयबद्ध स्थानान्तरण की नीति अपनाने की सलाह दी है। कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकारियों पर नियंत्रण की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए भी इस सम्बन्ध में राजा को व्यवहारिक नीति अपनाने का भी सुझाव दिया है। कौटिल्य का मत है कि पद और शक्ति के साथ उसके थोड़े बहुत दुरूपयोग की संभावना सदैव बनी रहती है, अतः राजा को चाहिए कि वह प्रशासन पर निगरानी रखे तथा कर्मचारियों के छोटे–मोटे अपराधों को अधिक तूल न दे। किन्तु जब ऐसा प्रतीत हो कि भ्रष्टाचार या पद का दुरूपयोग किसी अधिकारी या कर्मचारी के व्यवहार का सामान्य अंग बन गया है, तब राजा उसकी उपेक्षा नहीं करे तथा ऐसे कर्मचारी को पद से हटाने के अतिरिक्त उसे कठोर दण्ड भी प्रदान करे।

प्रशासन में कार्मिक व्यवस्था

कौटिल्य ने प्रशासनिक व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए कार्मिक व्यवस्था अर्थात् कर्मचारियों का चयन, प्रशिक्षण, वेतनमान, पदोन्नति आदि विषयों पर समुचित ध्यान दिया जाना भी आवश्यक माना है।

1. चयन का वर्गीकरण– कौटिल्य ने राज्य कर्मचारियों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया है

1. युक्त

2. उपयुक्त

कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकारियों का उपयुक्त की संज्ञा दी है तथा अधीनस्थ कर्मचारियों को युक्त माना है। कौटिल्य का मत यह है कि युक्त व उपयुक्त दोनों श्रेणियों के राज्य कर्मचारियों को नियुक्ति प्रदान करते समय उनके पद के दायित्वों और कार्य–क्षेत्र को भली–भाँति निर्धारित कर दिया जाना चाहिए, ताकि उन्हें अपने दायित्वों के विषय में कोई भ्रम न रहे तथा विभिन्न अधिकारी व कर्मचारी एक–दूसरे के कार्य–क्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप न कर सके। कौटिल्य ने कर्मचारियों की नियुक्ति में पक्षपात या भेदभाव को स्थान नहीं दिया तथा योगयता और निपुणता के आधार पर ही नियुक्तियों पर बल दिया। कौटिल्य ने नियुक्ति से पूर्व राज्य कर्मचारियों को योग्यताओं और आचरण की पूरी जाँच कर लिये जाने को आवश्यक माना है।

2. कर्मचारियों के लिए आचार संहिता– कौटिल्य ने राजकीय कर्मचारियों के लिए एक विस्तृत आचार संहिता का प्रतिपादन किया है। इस आचार संहिता में कौटिल्य ने समस्त कर्मचारियों से निम्नलिखित अपेक्षाएं की है।

1. अपने निर्धारित अधिकार क्षेत्र के अनुरूप ही कार्य करना।

2. सत्य–भाषण।

3. व्यवहार में शिष्टाचार और शालीनता का निर्वाह।

4. कर्मचारियों में पारस्परिक गुटबन्दी न करना।

5. सदैव राजा का हित चिंतक रहना।

6. शासकीय हित की बात को निर्भीकतापूर्वक उच्चस्थ अधिकारियों से कहना।

7. राज्य से द्वेष न रखना।

3. वेतन, वेतनमान व वेतन–वृद्धि– कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों को उनके पद के अनुसार वेतन देने का समर्थन किया है। कौटिल्य का मत है कि कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन दिया जाना चाहिए जिससे कि वे अपने परिवार का अच्छी तरह भरण पोषण कर सकें। उनका मत है कि कम वेतन प्राप्त होने से अधिकारी असंतुष्ट हो जाते हैं तथा वे रिश्वत लेने और गबन आदि कार्यों में लिप्त हो जाते हैं। कौटिल्य ने विभिन्न वर्गों के अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए उनके कार्यों और योग्यताओं को ध्यान में रखते हुए वेतन–निर्धारण के लिए एक संतुलित नीति अपनाई जानी चाहिए। प्रशासनिक अधिकारियों के वेतनमानों की कौटिल्य ने सामान्य तीन श्रृंखलाएँ स्वीकार की हैं। जिसमें आचार्य, मंत्री, पुरोहित, सेनापति व युवराज आदि को कौटिल्य ने एक ही श्रेणी का पदाधिकारी मानकर इनके लिए 48000 पण वार्षिक वेतन निर्धारित किया है। वेतनमानों की द्वितीय श्रृंखला में कौटिल्य के द्वारपाल,अर्वेशिक आयुगधाराध्यक्षा, समाहर्ता और सान्नधाता को सम्मिलित किया है और इनका वेतन 24000 पण वार्षिक निर्धारित किया है। नाहर, पौर, व्यावहारिक, कर्मान्तिक, राष्ट्रपाल, अन्तपाल व निम्नस्थ श्रेणी के मंत्रियों को तृतीय श्रेणी का वेतनमान प्रदान करते हुए इन्हें 12000 पण वार्षिक निर्धारित किया है। वतनमान की चतुर्थ श्रेणी में कौटिल्य ने सेना के विभिन्न अंगों के अध्यक्षों तथा प्रशासन के कतिपय महत्त्वपूर्ण विभागों के अध्यक्षों को सम्मिलित किया है तथा उन्हें 4000 पण वार्षिक वेतन देना उचित माना है। वेतनमान की पाँचवी श्रृंखला में कौटिल्य ने शिक्षकों, पशुओं के प्रशिक्षकों तथा प्रशासन के कतिपय कम महत्वपूर्ण विभागाध्यक्षों को सम्मिलित किया है तथा उन्हें 2000 पण वार्षिक वेतन देना उचित माना है। अन्य कर्मचारियों, शिल्पकारों आदि को कौटिल्य ने वेतन की छठी श्रेणी में माना है तथा उनके लिए निश्चित वेतनमान का प्रतिपादन करने की अपेक्षा यह व्यक्त किया है कि उनकी योग्यताओं, तथा उनसे लिये जाने वाले कार्यो की मात्रा के अनुरूप उन्हें 500 पण वार्षिक से 1000 पण वार्षिक वेतन दिया जाना उचित माना है।

वेतनमानों के निर्धारण में कौटिल्य ने समुचित वर्गीकरण, आवश्यकता अक्र कार्य के अनुरूप वेतन के निर्धारण तथा न्यनतम वेतन की आवश्यकाता के सिद्धान्त को ध्यान में रखा है। कौटिल्य द्वारा वेतनमानों की छः श्रेणियों को स्वीकार करने तथा वेतनमानों की प्रथम श्रेणी व अंतिम श्रेणी के वतन के मध्य गंभीर अंतराल रखने से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य ने राजकीय कर्मचारियों के वेनत के मध्य लगभग समरूपता के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है, अपितु वेतनमानों की दष्टि से विभिन्न स्तर के कर्मचारियों के मध्य गंभीर विषमता का समर्थन किया है। कौटिल्य ने वतनमान के निर्धारण के अलावा कर्मचारियों के मध्य गंभीर विषमताओं का भी समर्थन किया व वेतनमान के निर्धारण के अलावा कर्मचारियों को समयबद्ध वेतन प्रदान करना भी उचित माना है। कौटिल्य का मत है कौटिल्य का मत है कि इससे कर्मचारियों व अधिकारियों को अपने कार्य के प्रति आकर्षण निरन्तर बना रहता है।

4. पदोन्नति– कौटिल्य ने कर्मचारियों की पदोन्नति के विषय में एक निश्चित नाति का प्रतिपादन करते हए शासक को परामर्श दिया है किवह कर्मचारियों व अधिकारियों को, उनके द्वारा कर्तव्यों के निष्ठापूर्वक पालन के आधार पर पदोन्नति देकर प्रोत्साहित करता रहे। पदोन्नति के लिए कौटिल्य ने कर्मचारी या अधिकारा क कार्य के समचित मल्यांकन को आवश्यक माना है। कौटिल्य जहाँ निष्ठापूर्वक

कर्तव्यों के पालन के लिए कर्मचारी का पदोन्नत करके पुरस्कृत करने पर बल देते हैं वहीं उन्होने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि कर्मचारियों के कार्यों के मूल्यांकन के दौरान यह लगे कि वे अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहे हैं तो उन्हें पदों से गिरा कर निम्न पदों पर नियुक्त कर देना चाहिए।

5. अवकाश– कौटिल्य ने कर्मचारियों को आकस्मिक अवकाश, अस्मस्थता की स्थिति में चिकित्सा अवकाश तथा विशेष अवसरों पर पर्व–अवकाश प्राप्त करने के अधिकार का समर्थन किया है। कौटिल्य का मत है कि कर्मचारियों को दिये जाने वाले ऐसे अवकाश संवैतनिक होने चाहिए। कौटिल्य की मान्यता है कि यदि किसी अवकाश के दिन भी कर्मचारियों से कार्य कराना आवश्यक प्रतीत हो तो उसे अतिरिक्त वेतन प्रदान किया जाना चाहिए।

6. सेवानिवृति लाभ– कौटिल्य ने कर्मचारियों की आयु अधिक हो जाने पर तथा उनकी कार्य की क्षमता कम हो जाने पर उन्हें सेवा से निवृत्त कर दिये जाने की व्यवस्था की है। उन्होंने शासक को परामर्श दिया है किवह कर्मचारी की सेवा निवृति के पश्चात् उनके भरण–पोषण के लिए पेंशन की व्यवस्था करे। राजकीय सेवा के अधीन किसी कर्मचारी की मृत्यु हो जाने पर कौटिल्य ने उसे मिलन वाला वेतन उसी पत्नी व पुत्र को प्रदान किया जाना उचित माना है। कौटिल्य का मत है कि मत राजकीय कर्मचारी बालकों, वृद्धों और परिजनों पर राजा को अपनी कृपा बनाये रखने चाहिये और उनके घर में मृत्यु अस्वस्थता या अन्य कोई अवसर उपस्थित होने पर राजकोष से उन्हें निरंतर सहायता प्रदान करनी चाहिए।

प्रशासनिक प्रणाली का निर्वाह

कौटिल्य की मान्यता है कि राज्य अपने व्यापक दायित्वों की पूर्ति तभी कर सकता है जबकि वह एक सक्षम प्रशासनिक प्रणाली की स्थापना करने में सक्षम हो। कौटिल्य ने राज्य से विवेकसम्मत और व्यावहारिक आधारों पर विभिन्न विभागों का संगठन करने तथा उचित संख्या में सुयोग्य अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति करने की अपेक्षा की है। कौटिल्य का मत है कि समुचित नियंत्रण के बिना कर्मचारी व अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरूपयोग कर सकते हैं और प्रजा को पीड़ित भी कर सकते हैं। इसलिए कौटिल्य ने राज्य को राजकीय कर्मचारियों पर भली–भाँति नियंत्रण रखने, व सुनिश्चित करने के लिए उत्तरदायी माना है ताकि अधिकारियों व कर्मचारियों द्वारा प्रजा का शोषण नहीं किया जा सके। कौटिल्य ने पर राष्ट्र सम्बन्धों के कुशल संचालन को राज्य के प्रमुख दयित्वों में माना है। कौटिल्य के अनुसार यदि अन्तर्राज्जीय सम्बन्धों के संचालन में शासक कुशलता और दूरदर्शिता का परिचय नहीं देता तो राज्य की सुरक्षा के समक्ष गंभीर खतरे उपस्थित होने की संभावना हो जाती है। कौटिल्य ने शासक को परामर्श दिया है कि वह अन्तर्राज्य सम्बन्धों में युद्ध या शांति का निर्णय की सदैव इस बात को ध्यान में रखते हुए करे कि प्रजा का कल्याण और उसकी सुरक्षा ही सर्वोपरि है। इसी कारण कौटिल्य ने राजा को परामर्श दिया है कि अनावश्यक युद्धों से बचने का प्रयत्न करें क्योंकि इस में प्रजा को हानि की आशंका होती है। राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में किये गये विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य का राज्य एक अहस्तक्षेपवादी राज्य कदापि नहीं है। कौटिल्य का राज्य अनिवार्य रूप से एक लोक कल्याणकारी राज्य है जो सैद्धान्तिक रूप से प्रजा के कल्याण के प्रति समर्पित है तथा व्यावहारिक दृष्टि से वह ऐसे अनेक गतिविधियों को सम्पन्न करने के दायित्वों का निर्वाह करता है, जो प्रजा के व नैतिक, आर्थिक व सामाजिक उत्थान से सम्बन्धित है।

● मण्डल सिद्धान्त

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में मण्डल सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों से संबंध संचालन को मंडल सिद्धान्त के नाम से तथा अन्य विदेशी राज्यों के साथ संबंध संचालन को षाडगुण्य नीति के नाम से अभिव्यक्त किया। कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त प्राचीन भारतीय ग्रन्थों पर आधारित है। यह राम राज्य में प्रचलित "दिग्विजय सिद्धान्त" पर आधारित है।

अर्थ: मण्डल का अर्थ "राज्यों का वृत्त" होता है। यह एक प्रकार की रणनीति है जिसमें विषय की आकांक्षा रखने वाला राज्य अपने चारों ओर के अन्य राज्यों को मण्डल स्वीकारता है।

मण्डल सिद्धान्त एक बारह राज्यों के वृत्तों पर आधारित है। इसके अन्तर्गत मण्डल का केन्द्र ऐसा राज्य होता है जो पड़ोसी राज्य को जीतकर अपने में मिलाने का प्रत्यत्नशील रहता है। इसे वह विजिगीषु राजा कहकर पुकारता है। मंडल में बारह राज्य होते है– विजिगीषु, अरि, मित्र, मित्रमित्र, अरि मित्रमित्र, पाष्ठिग्राहा, आक्रंद, पाणिग्रालसार, आंक्रादासार, मध्यम और उदासीन।

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु मंडल के मध्य रहता है। अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र और अरिमित्र ये पाँच राज्य विजीगीषु के सामने तथा पाणिग्राह, आंक्रद, पाणिग्राहासार और आंक्रादासार ये चार राज्य के पीछे रहते है। शेष दो राज्य मध्यम एवं उदासीन बगल में रहते हैं। कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त के बारह राज्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है:

1. **विजिगीषु राज्य**: अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा रखने वाला विजिगीषु कहलाता है व इसका स्थान मंडल के केन्द्र में होता है।

2. **अरि**: विजिगीषु के सामने वाला राज्य जो उसका शत्रु होता है अरि कहलाता है।

3. **मित्र**: अरि के सामने का राजा मित्र कहलाता है। यह विजिगीषु का मित्र और अरि का शत्रु होता

4. **अरिमित्र**: मित्र के सामने वाला राज्य अरिमित्र कहलाता है। यह अरि का मित्र और विजिगीषु का शत्रु होता है।

5. **मित्रमित्र**: अरिमित्र के सामने वाला राज्य मित्रमित्र कहलाता है। मित्र राज्य का मित्र होता है। यही कारण है कि वह विजिगीषु राज्य के साथ भी उसकी मित्रता होती है।

6. **अरि मित्रमित्र**: मित्रत्रमित्र के सामने वाला राज्य अरि मित्र–मित्र कहलाता है क्योंकि वह अरिमित्र राज्य का मित्र होता है। अतः अरि राज्य के साथ उसका संबंध मित्रता का रहता है।

7. **पार्ष्णिग्राह (पीठ का शत्रु)**– विजिगीषु के पीछे जो राज्य रहता है वह पाणिंग्राह कहलाता है। अरि की तरह वह भी विजिगीषु का शत्रु होता है।

8. **आंक्रद**: पाणिंग्राह के पीछे जो राज्य होता है उसे आंक्रद कहते है वह विजिगीषु का मित्र होता

9. **पार्ष्णिग्राहासार**: आंक्राद के पीछे वाला राज्य का पाणिग्राहासार कहलाता है। यह पाणिग्राह का मित्र होता है।

10. **आंक्रादासार**: पार्ष्णिग्राहासार के पीछे वाला राज्य आंक्रदासार कहलाता है। यह आंक्राद का मित्र होता है।

11. मध्यम : मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु और परिराज्य दाना का सामा सला होता है। दोनों से शक्तिशाली होने के कारण यह दोनों की सहायता भी करता है। जरूरत पड़ने पर यह दोनों से अलग–अलग मुकाबला भी करता है।

12. उदासीन : राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि, मध्यम इन तीनों से परे पर होता है। यह शक्तिशाली होने के कारण तीनों से मुकाबला भी कर सकता है।

उक्त बारह राज्यों का समूह राज्य मण्डल कहलाता है। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि भौगोलिक आधार पर कौन मित्र तथा शत्रु हो सकते है।

मण्डल सिद्धान्त का विश्लेषण : कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त एक व्यावहारिक एवं दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्त का परिणाम है। इस सिद्धान्त में कौटिल्य ने राज्य के चारों ओर बनने वाले मण्डल (दूसरे राज्यों के घेरा) का विश्लेषण किया है। उसके मण्डल सिद्धान्त की प्रमुख तत्व निम्नवत है:

1. कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त बारह राज्यों के एक केन्द्र की कल्पना पर आधारित है।

2. मण्डल सिद्धान्त में राज्यों को विशेष नाम एवं विशेष प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

3. कौटिल्य के अनुसार यह संख्या घट बढ़ सकती है।

4. कौटिल्य के अनुसार मध्यम एवं उदासीन राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों की शक्ति लगभग समान है।

5. कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु तथा उसके पड़ोसी का मित्र होता है।

6. उसकी मान्यता है कि राज्य को पड़ोसी राज्य से सतर्क रहते हुए अपना गठबंधन बनाना चाहिए।

7. यह शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित है।

यह राज्यों के आपसी सहयोग पर आधारित बताया गया है। कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार स्थापित किया गया था परन्तु आज की बदली परिस्थितियों में जिसमें भूमण्डलीकरण का दौर है तथा सैनिक शक्ति की अपेक्षा आर्थिक शक्ति का महत्व बढ़ गया है, प्रांसगिक नहीं रह गया है। इसके बावजूद तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उसकी यह एक महत्वपूर्ण देन है।

राज्य मण्डल के घटक

कौटिल्य ने राज्य मण्डल के चार घटक बताए।

1. विजिगीषु– राज्य मण्डल में केन्द्रस्थ राजा को कौटिल्य ने विजिगीषु की संज्ञा दी है। वस्तुत राज्य मण्डल के अन्य राज्यों को नामकरण उसी के संदर्भ में किया गया है। कौटिल्य ने प्रतिपादित किया है कि जो राजा आत्मसम्पन्न, अमात्य आदि प्रव्य प्रकृति दृष्टि से संपन्न और नीति का आश्रय लेने वाला हो, उसको विजिगीषु कहते हैं।

2. अरि– मण्ड़ल के प्रसंग में कौटिल्य ने अरि ऐसे राजा को कहा है जिसके राज्य की सीमा विजिगीषु के राज्य से मिलती हो। सीमा सम्बन्धी विवादों के अग्रभाग एवं पृष्ठभाग दोनों ही तरफ होते हैं। दोंनो में भिन्नता व्यक्त करने के लिए कौटिल्य ने विजिगीषु के अग्रभाग में अवस्थित राज्य को अरि एंव पष्ठभाग में स्थित राज्य को पाणिग्रह कहा है। कौटिल्य ने शत्रु को तीन वर्गों में बाँटा है 1. स्वाभाविक, 2. दायभागी, 3. सहज शत्रु।

3. मित्र– कौटिल्य के अनुसार राज्य मण्डल का अन्य महत्वपूर्ण अवयव मित्र है। सामरिक दृष्टि से भी इसकी स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण इसलिए होती है कि अरि विजिगीषु एंव मित्र के मध्य अवस्थित होता है। कौटिल्य ने मित्र का राज्य की प्रकृतियों में महत्वपूर्ण रूप से उल्लेख किया है, तथा अन्तर्राज्य सम्बन्धों में मित्र–राष्ट्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कौटिल्य ने मित्र में अपेक्षित गुणों का उल्लेख करते हुए प्रतिपादित किया है कि मित्र ऐसे होने चाहिए जो स्वाभाविक हों,स्थायी हों, अपने वश में रह सकें, जिनसे विरोध की संभावनाएं नहीं हों जो मंत्र, उत्साह आदि शाक्तियों से युक्त हो, तथा जो समय आने पर सहायता कर सकें।

4. माध्यम और उदासीन– कौटिल्य ने विजिगीषु, अरि एवं मित्र के अतिरिक्त राज्य में मण्डल में दो अन्य प्रकार के राज्यों मध्यम एंव उदासीन को भी स्थान दिया है। मध्यम तथा उदासीन राज्यों की भूमिका अन्तर्राज्य सम्बन्धों को निर्णायक रूप से प्रभावित करती है। कौटिल्य न पर–राष्ट्र नीति के संचालन के लिये जिस सैद्धान्तिक प्रारूप् का प्रतिपादन किया है, वह सक्षम संस्थाओं व उचित प्रक्रियाओं के अभाव में व्यवहार में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने पर–राष्ट्र सम्बन्धों के संचालन के लिये राजनयिक संस्थाओं और समुचित प्रक्रियाओं को महत्व के साथ विस्तृत रूप से चित्रित किया है।

● कौटिल्य का अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र प्राचीन भरतीय चिन्तन की नीति–शास्त्र परम्परा का प्रतिनिधि ग्रंथ माना गया हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा के अन्य स्रोतों यथा स्मृतियों व महाकाव्य आदि से अर्थशासत्र की भिन्नता इस सम्बन्ध में स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में राजनीतिक ज्ञान, मनुष्य के जीवन के उद्देश्यों को भी स्वतंत्र महत्त्व प्रदान किया गया है। कौटिल्य के अनुसार अर्थशास्त्र की विषय वस्तु में व्यक्ति के लौकिक आचरण और उसकी उन्नति के सारे संदर्भ अनिवार्य रूप से सम्मिलित किए हैं। कौटिल्य ने मानवीय वृत्तियों को अर्थ की संज्ञा दी है, तथा मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ की परिधि में सम्मिलित किया है। इस प्रकार मानवीय आचरण और वृत्तियों तथा लौकिक समृद्धि की प्राप्ति संरक्षण और उसके पालन के उपायों से सम्बन्धित शास्त्र को अर्थशास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है। स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र की रचना गद्य और पद्य दोनों में की है। संभवतः व्याख्या की अस्पष्टता के निराकरण के लिए कौटिल्य ने ग्रंथ के अंत मे एक पारिभाषिक परिशिष्ट जोड़ा है, तथा इसके साथ ही कतिपय सूत्रों को प्रस्तुत कर, ग्रंथ में विवेचित सामग्री का सार पुनः प्रस्तुत कर दिया हैं। इस ग्रंथ में कुल 15 अधिकरण हैं। प्रथम अधिकरण में राज्य से सम्बन्धित समस्याओं, ज्ञान की शाखाओं का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। दूसरे अभिकरण में राज्य के प्रशासनिक विभागों या संगठनों और पदाधिकारियों का विवेचन किया गया हैं। तीसरे व चौथे अधिकारण में क्रमशः राज्य की दीवानी और फौजदारी न्यायिक प्रणाली का विवेचन है। पाँचवे अधिकारण में राजकीय कर्मचारियों के अनुशासन, अधिकारों और दयित्वों का वर्णन किया गया है। छठे अधिकरण में युद्ध, विजय, पराजय तथा सेना सम्बधी व्यवस्थओं का चित्रण है। सातवां अधिकारण के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। आठवें अधिकरण में युद्ध, विजय, पराजय तथा सेना सम्बन्धी व्यवस्थाओं का चित्रण है। नवें अधिकरण में विभिन्न आपत्तियों से राज्य के बचाव की सामान्य नीति और तत्कालिक उपायों का विवरण दिया गया है दसवाँ अधिकारण युद्ध–नीति से सम्बन्धित है। 11वें अधिकारण में आपातकालीन स्थिति में शत्रु के नाश अथवा उसको वश में करने के उपायों में राजा के

द्वारा अपनाये जाने वाले रक्षा सम्बन्धी उपाओं का विवेचन है। 13वां अधिकारण पूर्णतः प्रमाण रहित है। 14 वें अधिकारण में शत्रु–नाश के लिए विषैली औषधियों, मंत्रों आदि का वर्णन है। 15 वां अधिकरण मुख्यतः पारिभाषिक है, तथा उसमें, विभिन्न प्रसंगों में ग्रंथ मं प्रतिपादित विचारों के अर्थान्वयन के लिए सूत्र प्रस्तुत किए गये हैं।

विशेष

अर्थशास्त्र में राजनीतिक ज्ञान का महत्त्व

- प्राचीन भारतीय ग्रंथों में राजनीतिक ज्ञान को दण्ड–नीति की संज्ञा भी प्रदान की गई है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दण्ड–नीति को ज्ञान की स्वतंत्र व स्वायत्त शाखा के रूप में महत्त्व प्रदान किया गया है। इस अर्थ में अर्थशास्त्र स्मृतियों की तुलना में एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता दिखायी देता है। मनुस्मृति में दण्ड–नीति शब्द को प्रयोग प्रमुखता से नहीं हुआ, अपितु राजकीय दायित्वों और अधिकारियों तथा राज्य व प्रजा के सम्बन्धों के निरूपण के प्रकरण को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार जहाँ मनुस्मुति संपूर्ण समाज के लिए अचार संहिता प्रस्तुत करने हुए, राजनीतिक व्यवस्था को पुर्ण सामाजिक व्यवस्था का एक भाग मान कर चित्रित करती है, कौटिल्य से ज्ञान की चार शाखाओं का चित्रण किया है–त्रयी, वार्ता आन्वीक्षिकी व दण्ड नीति। ज्ञान की शाखाओं को कौटिल्य ने विद्या का नाम दिया है तथा यह स्पष्ट किया है कि जिससे किसी विशेष संदर्भ में उचित–अनुचित व कर्तव्य–अकर्तव्य का ज्ञान होता होख उसे विद्या कहते हैं।। त्रयी के अन्तर्गत कौटिल्य ने वेद व वेदांगों के ज्ञान, नैतिक और आध्यात्मिक विषयों का सम्मिलित किया है। सामाजिक विषयों से माना गया है। कौटिल्यों को भी त्रयी के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार त्रयी का सम्बन्ध नैतिक, आध्यात्मिक पारलौकिक विष्यों को सम्मिलित किया है। सामाजिक विष्यों को भी त्रयी के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार त्रयी का सम्बन्ध नैतिक, आध्यात्मिक और पारलौकिक विषयों से माना गया है। कौटिल्यो ने वार्ता में कृषि, पशुपालन, उद्योगों तथा ऐसे विषयों को सम्मिलित किया है, जो भौतिक उपलब्धियों और सम्पत्ति आदि के अर्जन से सम्बन्धित है। त्रयी और वार्ता के प्रति किये जाने वाले प्रयत्नों में तर्क, विवेक और न्याय की प्रयुक्ति को कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी की संज्ञा दी है। इस प्रकार कौटिल्य अनुसार आन्वीक्षिकी वह मापदण्ड है जिसके द्वारा व्यक्ति के नैतिक और भौतिक उद्देश्यों के लिये किये जाने वाले प्रयलों को संतुलित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आन्वीक्षिकी की सहायता से त्रयी और वार्ता द्वारा अर्जित लाभों, तथा नैतिक और भौतिक उपलब्धियों के, समुदाय में न्याय–सम्मत वितरण को सुनिश्चित किया जा सकता है कौटिल्य ने दण्ड–नीति को त्रयी, वार्ता और आन्वीक्षिकी के भली भाँति क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी माना है। इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार त्रयी और वार्ता मनुष्य के जीवन के क्रमशः नैतिक व भौतिक प्रयोजनों, आन्वीक्षिकी इन प्रयोजनों में तर्क, विवके और न्याय के प्रयोग, तथा दण्ड नीति मनुष्य के जीवन में लौकिक और पारलौकिक उद्देश्यों को आन्वीक्षिकी के अनुसार घटित करने के दायित्व की पूर्ति के द्वारा, परिवर्तन की संस्थागत व्यवस्था को प्रस्तुत करती दिखायी पडती है।
- कौटिल्य के लिए यद्यपि ज्ञान की चारों शाखाएँ महत्वपर्ण हैं, परन्तु दण्ड–नीति का महत्व सर्वाधिक है। क्योंकि वस्तुतः दण्ड नीति ही त्रयी व वार्ता और, उनके आन्वीक्षिकी का सनिश्चित होना ही असंभव हो जायेगा। किन्तु कौटिल्य दण्डनीति को अकेले ही महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार दण्ड–नीति का कार्य तो आन्वीक्षिकी के मापदण्ड के अनुशासित व निर्देशित रहते हुए, व्यक्ति के जीवन के भौतिक (वार्ता के माध्यम से) और नैतिक (त्रयी के माध्यम से) उद्देश्यों के मध्य संतुलन

बनाए रखना है। इस प्रकार कौटिल्य ने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के मध्य सम्बन्धों का प्रतिपादन कर, राजनीतिक ज्ञान को स्वतंत्र स्तर प्रदान करते हुए भी, राजनीतिक सत्ता के उपयोग पर नियंत्रण की आवश्यकता को भी महत्व दिया है।

● कौटिल्य एवं मैकयावेली

कौटिल्य ने पुस्तक "अर्थशास्त्र" तथा मैकियावेली ने अपनी पुस्तक "दि प्रिंस" में अपने राजनीतिक विचारों का उल्लेख किया। कुछ पाश्चात्य विचारक कौटिल्य को मैकियावेली का अग्रदूत मानते है तथा उसकी तुलना मैकियावेली से करते है। कौटिल्य एवं मैकियावेली में अनेक स्थानों पर समानता व भिन्नता समान रूप से दिखती है।

कौटिल्य व मैकयावेली में समानता

1. दोनों राजा को असीमित शक्तियाँ देने के पक्षधर माने गये है तथा वे राजा को सर्वोच्च निर्णायक मानते है।

2. दोनों ही राज्य की एकता एवं विस्तारवादी नीति के समर्थक हैं।

3. दोनों ने युद्ध को राज्य की विस्तार एवं विदेश नीति का प्रमुख आधार माना है।

4. दोनों ही कठोर राष्ट्रवादी थे। वे राज्य की एकता स्थापित करने के पक्षधर थे।

5. दोनों के राजनीतिक सिद्धान्त पूर्णतः यर्थातता पर आधारित थे।

6. दोनों ही विदेश नीति पर बड़ा बल दिया। दोनों ही पड़ोसी राज्य को शंका से देखते हैं।

7. दोनों ने गुप्तचर पर विशेष बल दिया तथा दोनों गुप्तचरों को राज्य की आंख एवं कान माना। दोनों ने गुप्तचरों का विस्तृत विवेचन किया है।

8. दोनों ने राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिये नैतिकता के उल्लघंन को सही ठहराया है। इसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति को सही ठहराया है।

कौटिल्य और मैकियावेली में अंतर

कौटिल्य एवं मैकियावेली में कुछ बिन्दुओं पर अंतर भी दिखता है।

1. कौटिल्य एक आचार्य था जो सादा एवं संयमित जीवन का समर्थक था। वहीं मैकियावेली न तो आचार्य था और न ही सन्यासी था।

2. कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" की रचना अपने लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात मौर्य वंश की स्थापना के बाद की वहीं मैकियावेली ने इसकी रचना अपने जीवन के निराशाजनक पल में की थी। उसने प्रिंस की रचना तब की जब वह राजनीतिक रूप से निष्कासित हो चुका था।

3. प्रिंस केवल राजनीति से सम्बन्धित है जबकि "अर्थशास्त्र" राजनीति तथा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित है।

4. मैकियावेली मानव के प्रति नकरात्मक दृष्टिकोण रखता है जबकि कौटिल्य का दृष्टिकोण पूर्णतः निराशाजनक नहीं है।

5. मैकियावेली का मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा को बनाये रखना है जबकि कौटिल्य का उद्देश्य व्यापक राज्य एवं शासन व्यवस्था का प्रतिपादन करना है।

6. कौटिल्य परम्परावादी है जबकि मैकियावेली आधुनिक है। कौटिल्य राजतन्त्र का समर्थन करता है जबकि मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया है।

7. कौटिल्य ने विदेश नीति पर प्रकाश डाला है। इसके लिये राजदूत आदि का व्यापक वर्णन किया है। जबकि मैकियावेली में इसका अभाव दिखायी पडता हैं।

● कौटिल्य एवं यूनानी विचारक

कौटिल्य की पृष्ठभूमि भारतीय थी जबकि यूनानी विचारकों जैसे प्लेटो की पृष्टभूमि पूर्णतः भिन्न थी। इसके बावजूद दोनों के बीच कुछ समानतायें दिखायी पड़ती है।

कौटिल्य व यूनानी विचारकों में समानता

1. दोनों ही विचारकों ने राज्य को एक शरीर के रूप में स्वीकार किया है।

2. दोनों ने राज्य को आवश्यक बताया। उनका मानना था कि राज्य द्वारा ही व्यक्ति अपने अंतिम उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है।

3. दोनों ही राजतन्त्रों के समर्थक है। दोनों का राजा दाशनिक या योग्य राजा है। उनकी मान्यता उसकी योग्यता में है।

4. दोनों की राज्य को व्यक्ति के विकास का माध्यम मानते है।

कौटिल्य व यूनानी विचारकों में असमानतायें

प्लेटो एवं कौटिल्य में निम्न बिन्दुओं पर भिन्नतायें दिखायी पड़ती है:

1. प्लेटो आदर्शवादी विचारक है तथा उसका दृष्टिकोण काल्पनिक है। वहीं कौटिल्य यर्थाथवादी तथा उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक है।

2. प्लेटो आदर्श राज्य की कल्पना कर विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत करता है वहीं कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र में राजनैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य एक मजबूत एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना है।

3. प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिये दार्शनिक शासक तथा साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया जबकि कौटिल्य ने साम्यवाद एवं आदर्श राज्य की स्थापना पर बल नहीं दिया।

4. प्लेटो ने स्त्री–पुरूष समानता पर बल दिया परन्तु कौटिल्य ने राजकार्यों में स्त्री सहभागिता पर बल नहीं दिया है।

5. कौटिल्य के "अर्थशास्त्र में राज्य के गठन, विदेश नीति, गुप्तचर व्यवस्था, वैदेशिक नीति का व्यापक वर्णन है जबकि प्लेटो के दर्शन में इसका अभाव है।

● छात्र क्रियाकलाप

1. कौटिल्य के जीवन परिचय का वर्णन कीजिए।

____

____

____

2. कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विवेचना कीजिए।

3. अर्थशास्त्र में राजनीतिक ज्ञान का महत्व स्पष्ट कीजिए।

4. राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा प्रस्तुत कीजिए।

● सारांश

- भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कौटिल्य का उच्च्य स्थान है। वह उसी प्रकार भारतीय राजनीतिक चिन्तन का पिता मान जाता है, जिस प्रकार प्लेटो और अरस्तू पाश्चात्य जगत के राजनीतिक चिन्तन के पिता माने जाते हैं।
- लगभग प्रत्येक भारतीय राजनीतिक परकौटिल्य का प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ–कामन्दक अपने आपको कौटिल्य का शिष्य स्वीकार करता है,सोमदेव सूरी की रचना। विचारों पर आधारित तथा कालिदास और कात्यायन के राजनीतिक विचारों पर कौटिल्य ही अर्थशास्त्र के स्रोत है।
- इनके अतिरिक्त अन्य अनेक साहित्यकारों तथा राजनीतिक विचारकों की रचनाएँ व टीकाएँ उसके अवतरणों से भरपूर हैं।
- कौटिल्य ने अपनी रचना अथशास्त्र द्वारा प्राचीन भरतीय राजनीतिक साहित्य को विस्मृत होने से बचा लिया। अर्थशासत्र मात्र कौटिल्य के विचारों का संग्रह ही नहीं है अपितु पहले के आचार्यों, विचारको और सम्प्रदायों के विचारों का भी उगेच मिलता है। उदाहरणार्थ–अर्थशास्त्र में भारद्वज, कणिकभरद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशा कोणपन्त, पाता–व्याध, बाह्यदान्तपुत्र, कात्यायन, घोटमख दीर्धचाराचधन, पिशुनपुत्र, किनजल्क आदि तथा मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, पाराशर आद सम्प्रदायों के विचारों का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र में विभिन्न प्राचीन भारतीय आचार्यों एवं संप्रदायों के विचारों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य से पर्व भी प्राचीन भारत में राजदर्शन पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था।

- कौटिल्य ने अपने पूर्व के आचार्य व विचारकों का संकलन किया. उनका खण्डन किया अथवा समर्थन किया तथा तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं, विचारकों का पर्यवेक्षण व परीक्षण किया। उसने तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं, विचारों एंव घटनाओं का श्रण व परीक्षण किया। उसने अपने अनुभव और विश्लेषण के आधार पर उनका मूल्यांकन का स्वयं के निष्कर्ष निकाले। कौटिल्य ने अनेक स्थानों पर ऐतिहासिक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं तथा उनकी तुलनायें भी दी है। इस प्रकार ने राजनीति शास्त्र को पृथक शास्त्र को पृथक शास्त्र बनाने का प्रयास किया। वे राजनीति शास्त्र को एक क्रमबद्ध व्यापक तर्कसंगत शाखा बना दिया।
- कौटिल्य ने विचारधारा में अनेक विचारकों तथा विचारकों तथा विचारधाराओं का पूर्वानुमान मिलता है–उदाहरणार्थ अपने समकालीन अरस्तू की तरह कौटिल्य राज्य के आदर्श व नैतिक स्वरूप तथा विवेक की सर्वोच्च को स्वीकार करता है। कौटिल्य शक्ति की राजनीतिक, धर्म व राजनीति विचारकों का पूर्वानुमान करता है। इन बातों में उसके विचार मैकियावली के विचारों के काफी निकट है। सम्प्रभुता को स्वामी में निहित करके तथा राजाओं को सर्वव्यापी बनाकर वहां ऑस्टिन का पूर्वानुमान करता है। अथा नियोजित अर्थव्यवस्था तथा भौतिक आवश्यकताओं की पर्ति पर बल देकर वह मास,राज्य समाजवाद तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था का पूर्वानुमान करता है। राज्य विस्तार तथा युद्ध के औचित्य पर बल देकर वह साम्राज्यवाद–फासीवाद तथा नाजीवाद का पूर्वानुमान करता है। साधारण लोगों के हित एंव राज्य का सुख राजा का सुख बताकर कौटिल्य आधुनिक कल्याणकारी जनता का पूर्वानुमान करता है।

● अभ्यास प्रश्न

1. राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को प्रस्तुत कीजिए?
2. राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप व उसका क्षेत्र का वर्णन कीजिए?
3. राजनीतिक व्यवस्था व समाज व्यवस्था में अन्तर स्पष्ट कीजिए?
4. राजनीतिक व्यवस्था व आर्थिक व्यवस्था में अन्तर स्पष्ट कीजिए?
5. कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त का वर्णन कीजिए?
6. शासक के व्यक्तिगत गण कौन–कौन से हैं?
7. शासक की दिनचर्या को प्रस्तुत कीजिए?
8. मंत्रिपरिषद् की संरचना को समझाये?
9. मंत्रियों के दायित्व क्या है?
10. मन्त्रियों की योग्यताएँ क्या है?
11. कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए?
12. राज्य मण्डल के घटक कौन–कौन से हैं?
13. दूत वयवस्था का विस्तृत वर्णन कीजिए?
14. गुप्तचर व्यवस्था का विस्तृत वर्णन कीजिए?
15. युद्ध का विस्तृत वर्णन कीजिए?

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. कौटिल्य के राजनीतिक विचार किस पश्चिम विचारक से मेल खाते हैं ?
   (अ) अरस्तु (ब) प्लेटो
   (स) मैक्यावली (द) रूसो
2. कौटिल्य के अनुसार होना चाहिए ?
   (अ) दो राष्ट्रों के मध्य सांझा सीमा नहीं होनी चाहिए
   (ब) साझा सीमा होनी चाहिए
   (स) दो राष्ट्रों के मध्य मध्यवर्ती राज्य होना चाहिए
   (द) सीमा खुली रहनी चाहिए
3. कौटिल्य समर्थक था ?
   (अ) निरंकुश तानाशाही (ब) लोकतांत्रिक राज्य
   (स) कल्याणकारी राज्य (द) समाजवादी राज्य
4. निम्नलिखित में से कौन मंडल का अंग नहीं है ?
   (अ) अरी (ब) मित्र
   (स) सामंत (द) विजिगिशु
5. कौटिल्य के अनुसार वार्ता ज्ञान की वह शाखा है जिसका संबंध है ?
   (अ) प्रजा की कर्तव्य (ब) धन दौलत के उत्पादन से
   (स) दर्शन से (द) उपरोक्त सभी
6. आन्वीक्षिकी का संबंध है ?
   (अ) धर्म और अधर्म (ब) दर्शन और तर्क से
   (स) कृषि और व्यापार से (द) शासनकाल और राजनीति शास्त्र से
7. कौटिल्य के अनुसार त्रिवर्ग में शामिल है?
   (अ) धर्म काम मोक्ष (ब) अर्थ काम धर्म
   (स) धर्म अर्थ मोक्ष (द) उपरोक्त में कोई नहीं
8. कौटिल्य के अनुसार युद्ध के प्रकार कितने हैं?
   (अ) दो (ब) 4
   (स) तीन (द) 6
9. अर्थशास्त्र में कितने अधिकरण है?
   (अ) 20 (ब) 22
   (स) 15 (द) 10
10. मंडल सिद्धांत का केंद्र बिंदु होता है?
    (अ) आक्रांद (ब) आक्रांद सार
    (स) अरी मित्र (द) विजिगिषु
11. किसने कहा कि, कौटिल्य का राजा मनु के राजा की तरह सत्ताधारी नही है?
    (अ) यू.एन. घोषाल (ब) एच.एन.सिन्हा
    (स) प्रभुदत्त (द) शयम शास्त्री

12. किसने कौटिल्य की पुस्तक अर्थशास्त्र का अंग्रेजी में अनुवाद किया था?
(अ) श्याम शास्त्री (ब) विनर
(स) एच.एन. सिन्हा (द) सीजर बोर्गिया

13. तंजोर के ग्रन्थालय में अर्थशास्त्र की पांडुलिपि कब मिली?
(अ) 1909 (ब) 1925
(स) 1918 (द) 1952

14. कौटिल्य की पुस्तक अर्थशास्त्र का प्रमुख विषय है ?
(अ) व्यापार (ब) राजनीति
(स) धर्म (द) लोक प्रशासन

15. हिन्दू राजशासन व्यवस्था पर आधारित सबसे प्राचीन कृति है?
(अ) अर्थशास्त्र (ब) नीतिशास्त्र
(स) युद्धशास्त्र (द) मुद्राराक्षस

16. मंडल सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य क्या है?
(अ) बड़े राज्यो की व्यवस्था में शक्ति सन्तुलनवकी स्थापना करना
(ब) मध्यम राज्यों की व्यवस्था में शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था करना
(स) छोटे रसजयो की व्यवस्था में शक्ति सन्तुलन की स्थापना करना
(द) उपयुक्त सभी

17. "पानी मे चलने फिरने वाली मछली कब, केसे और कितना पानी पी जाती हैं यह पता लगाना मुश्किल है।" कौटिल्य का यह कथन किस सन्दर्भ में है?
(अ) अशिक्षा (ब) मिलावट
(स) बेरोजगारी (द) भ्रष्टाचार

18. वाचस्पति गैरोला ने अर्थशास्त्र का किस भाषा मे अनुवाद किया ?
(अ) फारसी (ब) अंग्रेजी
(स) हिंदी (द) अरबी

19. कौटिल्य के अनुसार ज्ञान की शाखाएं हैं–
(अ) उपाय, षड्गुणनीति, मंडल (ब) मित्र, शत्रु, मध्यम, उदासीन
(स) साम, दाम, दंड, भेद (द) त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी और दंडनीति

20. कौटिल्य के राजनीतिक विचार किस पश्चिमी विचारक से मेल खाते है ?
(अ) अरस्तू (ब) प्लेटों
(स) मैकियावली (द) लॉक

21. कौटिल्य के मतानुसार–
(अ) दो राष्ट्रों के मध्य साँझा सीमा नहीं होनी चाहिये
(ब) साँझा सीमा होनी चाहिये
(स) दो राष्ट्रों के मध्य मध्यवर्ती राज्य होना चाहिए
(द) सीमाएं खुली रहनी चाहिये

22. कौटिल्य के अनुसार वार्ता ज्ञान की वह शाखा है, जिसका संबंध–
(अ) प्रजा के कर्तव्यों से है (ब) धन दोलत के उत्पादन से है
(स) दर्शन से है (द) उपरोक्त सभी से

23. कौटिल्य के अनुसार त्रिवर्ग में शामिल है?
(अ) अर्थ, काम, मोक्ष
(ब) अर्थ, काम, धर्म
(स) धर्म, अर्थ, मोक्ष
(द) काम, धर्म, मोक्ष

24. कौटिल्य के अनुसार राज्य का कोनसा अंग नहीं है?
(अ) स्वामी
(ब) अमात्य
(स) जनपद
(द) संभाग

25. कौटिल्य के राज्य के बारे में सत्य कथन–
(अ) कौटिल्य का राज्य जैविक राज्य हैं
(ब) राज्य साध्य व व्यक्ति साधन है
(स) कौटिल्य संविदा सिद्धांत का समर्थक है
(द) उपर्युक्त सभी

26. कौटिल्य का राजा — — के philosopherking की तरह है–
(अ) प्लेटो
(ब) अरस्तु
(द) मैक्यावली
(द) थॉमस हॉब्स

27. कौटिल्य के बारे में असत्य कथन पहचानिए–
(अ) कौटिल्य वर्ण व्यवस्था का पक्षधर है परंतु आधार, कर्म को मानता है
(ब) दंड में समानता का सिद्धांत का विरोधी है
(स) लोक कल्याणकारी राज्य का समर्थक है
(द) महिला उत्तराधिकार का समर्थक नहीं है

28. कौटिल्य षाड्गुण्य नीति में शामिल नहीं है–
(अ) द्वेधी
(ब) संश्रय
(स) आसन
(द) आक्रांदा

29. "राजा व अमात्य एक गाड़ी के दो पहिए हैं जो एक दूसरे के बिना बेकार हैं" उक्त कथन है–
(अ) कौटिल्य
(ब) प्लेटो
(स) मैक्यावली
(द) थॉमस हॉब्स

30. कौटिल्य ने राजा पर नियंत्रण लगाए थे?
(अ) धार्मिक नियंत्रण
(ब) मंत्री परिषद का नियंत्रण
(स) जनमत का नियंत्रण
(द) उपयुक्त सभी

31. कौटिल्य के अनुसार राज्य के कितने अंग है?
(अ) बारह
(ब) दस
(स) सात
(द) पांच

32. कौटिल्य कितने प्रकार के दुर्गों का उल्लेख करता है?
(अ) 9
(ब) 7
(स) 5
(द) 4

33. कौटिल्य के अनुसार युद्धों का प्रकार नहीं है?
(अ) प्रकाश या धर्म युद्ध
(ब) कूट युद्ध
(स) तुष्णी युद्ध
(द) सैनिक युद्ध

34. कौटिल्य ने विदेश नीति के संचालन के उपाय बताएं?
(अ) साम (ब) दाम
(स) दंड (द) उपयुक्त सभी

35. कौटिल्य त्रिवंग शामिल नहीं है–
(अ) धर्म (ब) अर्थ
(स) काम (द) मोक्ष

36. कौटिल्य विधाओं में शामिल नहीं हैं–
(अ) आनविक्षिकी· (ब) त्रयी
(स) कोष (द) वार्ता

37. कौटिल्य के अनुसार षडगुण्य नीति का मूल उद्देश्य है ?
(अ) कार्यसिद्धि (ब) भौगोलिक स्थिति
(स) शक्ति सन्तुलन (द) सीमाओं की सुरक्षा

38. आधुनिक काल में "अर्थशास्त्र" की पाण्डुलिपि की खोज किसने की?
(अ) श्याम शास्त्री (ब) पी एस श्रीनिवास शास्त्री
(स) के पी जायसवाल (द) पी डी सावरकर

उत्तरमाला

1.	(स)	2.	(स)	3.	(स)	4.	(स)	5.	(ब)
6.	(ब)	7.	(ब)	8.	(स)	9.	(स)	10.	(द)
11.	(स)	12.	(अ)	13.	(अ)	14.	(ब)	15.	(अ
16.	(स)	17.	(द)	18.	(स)	19.	(द)	20.	(स)
21.	(स)	22.	(ब)	23.	(ब)	24.	(द)	25.	(द)
26.	(स)	27.	(द)	28.	(द)	29.	(अ)	30.	(द)
31.	(स)	32.	(द)	33.	(द)	34.	(द)	35.	(द)
36.	(स)	37.	(अ)	38.	(अ)				

□□□

7

गुरुनानक देव जी के राजनीतिक व सामाजिक विचार
(POLITICAL AND SOCIAL IDEAS OF GURUNANAK DEVJI)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- जीवन परिचय
- गुरुनानक देव: राजनीतिक विचार
- राजनीति में गुरुनानक देव की भूमिका
- सारांश
- अभ्यास प्रश्न
- बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगे:

➡ गुरुनानक देव जी के सामाजिक विचारों को।

➡ गुरुनानक देव जी के राजनीतिक विचारों को।

● प्रस्तावना

गुरुनानक देव जी धर्म को राजनीति से जोडने के पूर्णतः पक्षघर थे। नानक देव जी के अनुसार धर्म से अभिप्राय ऐसे विचारों से है जो मनुष्य को मानवता की ओर अग्रसर करे। उनके अनुसार धर्म को राजनीति में सम्मलित करना चाहिए, जिससे बिना किसी भेदभाव के एक लोक कल्याणकारी स्वराज्य कायम किया जा सकता है।

धर्म प्रधान देश भारत जब अज्ञानता के अंधकार की ओर अग्रसर था व समाज में अनेक कुरीतियों का बोलबाला था, तब गुरुनानक देव जी का जन्म हुआ था। उन्होंने अपने ज्ञान के प्रकाश से समाज में व्याप्त बुराईयों व कुरीतियों को दूर करने का प्रत्यन्त किया। वे सिक्खों के प्रथम गुरु थे। उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षाओं की नीव रखी थी, जिस पर सिख धर्म का गठन हुआ था। इन्हें धार्मिक प्रवर्तनक स्वीकार किया गया व गुरुनानक देव जी ने अपनी शिक्षाओं को फैलाने के लिए दक्षिण एशिया व मध्य पूर्व में अनेक यात्राएँ की। उन्होंने विश्व के समक्ष एकेश्वरवाद का प्रस्तावना प्रस्तुत की।

उन्होंने मठवासीवाद का कोई समर्थन नहीं किया व अपने अनुयायियों को ईमानदार ग्रहस्थ जीवन का नेतृत्व करने का उपदेश दिया। उनकी समस्त शिक्षाओं को 974 भजन रुपी उपदेशों में पवित्र ग्रंथ

गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित किया गया है। अनेक विचारकों का मत है कि गुरुनानक देव का आध्यात्मिक दायरा उनके सामाजिक दायरे से अटूटतः बंधा हुआ था। उन्होंने पाखंड को त्यागने व सर्वकल्याण की भावना का प्रतिपादन किया। गुरुनानक देव ने महिलाओं के समान अधिकार व सम्मानपूर्ण जीवन की पूरजोर हिमायत की थी। उन्होंने यह स्पष्ट संदेश दिया था कि स्त्री परिवार की जननी है व उसका सम्मान अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने स्त्री व पुरुष को परस्पर एर दुसरे का पूरक बताया। उन्होंने समस्त धर्मों का सम्मान करने व सभी को विश्व बंधुत्व का संदेश दिया था।

● जीवन परिचय

जन्म	नानक, कार्तिक पूर्णिमा, 15 अप्रैल 1469 रायभोई की तलवंडी (वर्तमान में ननकाना साहिब, पंजाब में स्थित है)
मृत्यु	22 सितंबर 1539, करतारपुर
स्मारक समाधि	करतारपुर
धार्मिक मान्यता	सिख पंथ की स्थापना
पत्नी	सुलक्खनी देवी
माता–पिता	मेहता कालू जी, तृप्ता देवी जी
अंतिम स्थान	करतारपुर
उपाधि	सिखों के प्रथम गुरु

इनका जन्म रावी नदी के तट पर स्थित तलवंडी नामक ग्राम में कार्तिक पूर्णिमा की एक खत्रीकुल में होना माना जाता है। कई विद्वान इनकी जम्मतिथि 15, अप्रैल, 1469 मानते हैं। परन्तु प्रसिध्द तिथि कार्तिक पूर्णिमा को ही इनका जन्म मानते हैं। जो अक्टूबर – नवम्बर में दिवाली के लगभग 15 दिन बाद पड़ती है। इनके पिता श्री मेहता कालू जी व माता तृप्ता देवी थी। तलवंडी का नाम आगे चलकर गुरु नानक के नाम पर ननकाना रखा गया। 'नानकी' इनकी बहन का नाम था। इनके बाल्यकाल में ही इनमें प्रखर बुद्धि के लक्षण दिखाई देने लग गए थे।

बाल्यकाल से ये सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन रहते थे। पढ़ाई–लिखाई में इनका खास मन नहीं लगा। 7–8 साल की उम्र में इन्होने विद्यालय छोड़ दिया क्योंकि भगवत्प्राप्ति के संबंध में इनके प्रश्नो के समक्ष अध्यापक ने हार मान ली तथा वे इन्हें आदरपूर्ण घर छोडने आ गए। इसके पश्चात् उन्होने सारा समय आध्यात्मिक चिंतन और सत्संग में व्यतीत किया। बाल्यकाल में कई चमत्कारिक घटनाएँ हुई जिन्हें देखकर गाँव के लोगों ने इन्हें दिव्य व्यक्ति माना।

बाल्यकाल से ही इनमें विश्वास व श्रद्धा रखने वालो में इनकी बहन नानकी तथा ग्राम के शासक राय बुलार प्रमुख थे। अपने बचपन में गुरु नानक ने अनेक भाषाएँ सिखी; जैसे फारसी और अरबी। इनका विवाह वर्ष 1487 में हुआ था। वर्ष 1491 में इनके एक पुत्र का जन्म हुआ तथा वर्ष 1496 में दूसरे पुत्र का जन्म हुआ। सन् 1485 में अपने भैया व भाभी के कहने पर इन्होने दौलत खान लोधी के स्टोर में

अधिकारी के रुप में नौकरी की जो की सुल्तानपुर में मुसलमानों का शासक था। वही पर इनकी मुलाकात एक मुस्लिम कवि के साथ हुई जिसका नाम मिरासी था।

गुरु नानक ने अपने मिशन की शुरुआत मरदाना के साथ की। अपने इस संदेश के साथ–साथ उन्होनें कमजोर लोगों की सहायता के लिए जोर–शोर से प्रचार किया। इसके साथ–साथ उन्होंने जाति वाद , मूर्ति पूजा और छद्‌म धार्मिक विश्वासों के खिलाफ प्रचार–प्रसार किये। वे अपने सिध्दान्तों व नियमों के प्रचार के लिए अपने घर को छोड़ आए और सन्यासी जीवन व्यतीत करने लगे। इन्होंने हिन्दू व मुस्लिम दोनो धर्मों के विचारों को मिलाकर एक नए धर्म की स्थापना की जो अब सिख धर्म के नाम से जाना जाता है।

ये हिन्दू – मुस्लिम एकता के भारी समर्थक रहे। धार्मिक सदभाव की स्थापना के लिए उन्होंने सभी तीर्थ की यात्रायें की व सभी धर्मों के लोगो को अपना शिष्य बनाया। उन्होंने हिन्दू व मुस्लिम धर्म, दोनों की मूल और सर्वोत्तम शिक्षाओं को सम्मिश्रित करके एक नए धर्म की स्थापना की जिसके मिलाधर **"प्रेम व समानता"** थे। यही बाद में सिख धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भारत में अपना ज्ञान वितरित करने के बाद इन्होंने मक्का मदीना की यात्रा प्रारम्भ की। और वहाँ कि निवासी की भी अत्यंत प्रभावित किया।

25 वर्ष के भ्रमण के बाद नानक करतारपुर में रहने लगे और वहीं रहकर उपदेश देने का कार्य किया। उनकी वाणी का संकलन आज भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में देखने को मिलता है।

गुरु नानक जी का जन्म स्थान अब पाकिस्तान में है। जो अब ननकाना के नाम से प्रसिध्द है। इनका विवाह 16 वर्ष की अवस्था में सुलक्खनी नाम की कन्या के साथ हुआ था, नानक जी वर्ष 1507 में अपने परिवार का भार अपने ससुर के कंधो पर छोड़कर यात्रा के लिए निकल गये। जब नानक जी ने यात्रा प्रारम्भ की तब उनके साथ उनके चार साथी मरदाना, लहना, बाला और रामदास भी उनके साथ यात्रा के लिए आए थे। इसके बाद 1521 ई० तक नानक जी ने तीन यात्राा चक्र पूर्ण कर लिए जिसमें भारत, अफगानिस्तान, फारस और अरब के मुख्य मुख्य स्थानों का भ्रमण पूर्ण किया, गुरु नानक जी की इन यात्राओं को पंजाबी मे "guru" करते हैं।

बाल्यकाल से ही गुरु नानक जी में आध्यात्मिक विवेक व विचारशील जैसी कई खूबियाँ देखने को मिलती थी। मात्र सात वर्ष की आयु में इन्होंने हिन्दी व संस्कृत सीख ली थी। 16 वर्ष की उम्र तक आते–आते ये अपने आस–पास के राज्य में सबसे अधिक पढे–लिखे व विद्वान बन चुके थे। इस्लाम, ईसाई व यहूदी धर्म के शास्त्रों के बारे में भी नानक जी को पता था। नानक जी की शिक्षाएँ 'गुरु ग्रंथ साहिल' में मौजूद है।

गुरु नानक साहिब का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति के पास भगवान का निवास होता है। इसीलिए हमें धर्म, जाति, लिंग व राज्य के आधार पर एक दूसरे से भेदभाव नहीं रखना चाहिये।

उन्होंने बताया कि सेवा -- अर्पण, कीर्तन, सत्संग व एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही सिख धर्म की बुनियादी मान्यताएँ है। नानक जी ने कहा– जिसका कोई नहीं होता उसका ईश्वर होता है। जो हमे जन्म दे सकता है वो पालेगा भी अवश्य। अतः किस बात का गुरुर? किस बात का घमंड? कुछ भी तुम्हारा नही है सब कुछ यही रहेगा, तुम खाली हाथ आये थे व खाली हाथ ही जाओगे यदि तुम दुनियाँ के लिए कुछ करोगे तो मरकर भी लोगों के हृदय में जीवित रहोगे।

जब ये 5 वर्ष के थे तब इनके पिता ने इन्हें अध्ययन कार्य हेतु एक मौलवी के पास भेजा। मौलवी, इनके चेहरे का नूर देखकर चकित हो गया। जब उसने गुरु नानक देव जी की पट्टी पर (ऊँ) लिखा तब

उसी क्षण उन्होंने "१ऊँ" लिखकर संदेश दिया की ईश्वर एक है व हम सब उस एक पिता की ही सन्तान है। मौलवी ने उनके पिता कालू जी से कहा कि उनका पुत्र एक अलाही नूर है। उसको वह क्या पढाएगा वह तो समस्त संसार को ज्ञान देगा तथा यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो गई।

थोडा बडे होने पर जब पिता ने नानक को धन एकत्रित करने के लिए प्रोत्साहित किया, तो उनका मन नहीं लगा। मात्र 16 वर्ष की आयु में इनका विवाह हो गया। इनके दो पुत्र हुए परन्तु इन्हें परिवार का मोह नहीं बाँध सका। जिस उद्देश्य के लिए उन्होंने पृथ्वी पर जन्म लिया, उसे पूर्ण करने हेतु ये घर से निकल पडे तथा उनके साथ उनके दो साथी बाला व मरदाना गये। मरदाना मुस्लिम था। गुरु नानक ने समाज को संदेश दिया कि जाति–पाति व सम्प्रदाय से अधिक महत्वपूर्ण है **"मानव का मानव से प्रेम"** क्योंकि **"एक पिता एकस के हम बारिक।"**

मक्के में मुसलमानों का एक प्रसिद्ध पूजा स्थान काबा है। रात्रि के समय गुरु जी काबे की तरफ ठहर गए तब जिओन ने गुस्से में आकर गुरु जी से कहा कि तू कौन काफिर हैं जो खुदा के घर की तरफ पैर पसारकर सोया है। गुरु जी ने विनम्र स्वर में कहा, मैं यहाँ सारे दिन के सफर से थककर लेटा हूँ। मुझे यह ज्ञात नहीं है कि खुदा का घर किधर है। तुम हमारे पैर पकड़कर उधर करदे जिधर खुदा का घर नही हैं। इस बात को सुनकर जिओन ने बडे गुस्से में आकर गुरु जी के चरणों को घसीटकर दूसरी तरफ कर दिया व जब चरणों को छोडा तो देखा की काबा भी उसी ओर नजर आने लगा। इसी प्रकार उसने जब चरण दूसरी तरफ किए तो काबा उसी तरफ ही नजर आने लगा।

जिओन ने जब यह देखा कि काबा उनके चरणों के साथ घुमती हुए प्रतीत हो रही है तो उसने यह बात हाजी व मुलानों को बताई जिससे अनेक लोग वहाँ इकट्ठे हो गए। गुरु जी के इस कौतक को देखकर सभी दंग रह गए और गुरु जी के चरणों पर गिर पड़े। उन्होने गुरु जी से क्षमा प्रार्थना की। जब गुरु जी ने वहाँ से चलने की तैयारी की तो काबे के पीरों ने विनती करके गुरु जी से उनका खड़ाव निशानी के रुप में अपने पास ही रख ली।

एक मत के अनुसार गुरु नानक नित्य बई नदी में स्नान किया करते थे। एक दिन वे स्नान के पश्चात् वन में ध्यान लगा रहे थे। वहाँ उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हुआ। परमात्मा ने उन्हें अमृत पिलाया और कहा– मैं सदैव तुम्हारे साथ हूँ, मैंने तुम्हें आनन्दित किया है। अब जो तुम्हारे सम्पर्क में आएगा, वह भी आनन्दित होगा। जाओ नाम में रहो, दान दो, उपासना करो, स्वयं नाम लो और दूसरों से भी नाम का स्मारण कराना। इस घटना के बाद वे अपने परिवार का भार अपने ससुर मूला को सौंपकर विचरण करने निकल पडे और धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

गुरु जी ने इस उपदेशों को अपने जीवन में अमल लाकर स्वयं एक आदर्श बन सामाजिक सद्भाव की मिसाल कायम की। उन्होंने लंगर की प्रथा आरम्भ की, जहाँ अछूत लोग जिनके सामीप्य से उच्च जाति के लोग बचने की कोशिश करते थे। ऊँची जाति वालों के साथ बैठकर एक पंक्ति में बैठकर भोजन किया करते थे। आज भी सभी गुरुद्वारों में गुरु जी द्वारा शुरु की गई यह लंगर परंपरा अब भी बनी है। लंगर में बिना किसी भेदभाव के संगत सेवा होती है। इस जातिगत वैमनस्य को खत्म करने के लिए गुरु जी संगत प्रथा आरम्भ की।

● गुरुनानक देव: सामाजिक विचार

गुरु नानक ने सांसारिक कर्मशीलता को त्यागने व जंगलों तथा गुफाओं में जा बसने का प्रचार नहीं किया था, उन्होंने समाज–सुधार तथा के विचार भी प्रस्तुत किए थे, तथा तत्कालीन शासन की सरल भाषा में आलोचना भी की थी। उनके पदों राष्ट्रीय भावनाओं तथा तीव्र–व्यथा का अति–संवेदनशील व ओजस्वी चित्रण भी हुआ है।

वे ऐसे एकान्त–चेतनावादी नहीं थे क्योंकि उनका लक्ष्य मात्र निजी मोक्ष प्राप्त करना है। वे तो जन–सामान्य से यथार्थ आध्यात्मिक जीवन जीने की आकांक्षा रखते थे व उन्हें एक ऐसे सामाजिक–प्रतिमान पर एकाग्र कर लेना चाहते थे, जिससे दूसरों की विचारधाराओं के प्रति सहिष्णुता व मानव–मात्र के कल्याण की कामना को भी जागृत किया जा सके।

ईश्वर–तत्त्व

सिखों की धर्म–पुस्तक, पवित्र गुरु ग्रंथ, गुरु नानक देव की प्रसिद्ध रचना 'जपुजी' से ही प्रारम्भ होती है। प्रत्येक सिख के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल उसका पाठ करना अनिवार्य बताया गया है।

गुरुनानक देव ने कहा **"ईश्वर मात्र एक है; उसका नाम सत् है। वह सर्व–व्यापक रचयिता है, निर्भय है, निर्वैर है, उसका अस्तित्व काल से अप्रभावित है, वह कभी जन्म नहीं लेता स्वम्भू व उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा से सम्भव है।"** समय व्यतीत होने के साथ शब्द तो अपना अर्थ बदल लेते हैं, परन्तु संख्या के स्वगणार्थ सदैव निश्चित ही बने रहते हैं। अतः उन्होंने समारम्भ में ही ईश्वर के प्रभाव पर बल डाला, जिससे उनके अनुयायियों को हिन्दू सर्वेश्वर–धारा के असंख्य देवी–देवताओं से पूर्णतः मुक्त रखा जा सके।

अपने अनेक पदों में गुरुनानक देवजी ने बड़े मार्मिक वाक्यों में कहा है। **"सब कहते हैं कि वह एक है, किन्तु फिर भी 'मैं', 'मेरा' के अभिमान से भरे हुए हैं। केवल वे ही जीव उसके दैवी सदन तथा परम–धाम तक पहुंचते हैं, जो भीतर (अपनी आत्मा में) तथा बाहर उसी का दर्शन करते हैं। ईश्वर निकटतर है, उसे दूर मत जानो। वह तो समूची सृष्टि में व्याप्त है। नानक कहते हैं कि जो जीव एक ईश्वर को पहचानता व द्वैत का त्याग करता है, वह उसी में लीन हो जाता है।"**

गुरुनानक देव ने ईश्वर–तत्व पर अपने निम्न विचार प्रस्तुत किए **"मार्ग एक ही है। जल, वायु एवं अग्नि में एक ही सत्य व सुन्दर प्रकाशित है। एक ही भंवरा ब्रह्मांड में भ्रमता है। इस वाक्य को समझने वाला ही सम्माननीय है, किन्तु मात्र कुछ गुरमुख (ईश्वराभिमुख) जीव ही इसे पहचान पाते हैं। वे अपने ज्ञान व साधना का उपयोग इसी साम्यावस्था में करते हैं। जिसे कृपापूर्वक इसकी प्राप्ति हुई है, वह आनन्दित होता है तथा उसके (ईश्वर के) प्राप्त्यर्थ मार्ग की उपलब्धि गुरु के द्वारा ही सम्पन्न होती है।"**

देव जी ने ईश्वरतत्व के विषय मे भी आगे भी कहा है कि **"धन्य है, जिससे माया, संसार व ब्रह्मा का स्रवण हो रहा है, तथा समस्त प्रशंसनीय परम तत्त्वों का उदय हुआ है और हृदय में चिरानन्द की ज्योति फैल गई है?"**

ईश्वर निर्भय तथा शत्रुता–रहित है। गुरुनानक का विचार है कि **"ईश्वर के भय से समीर चलता व हवाएँ बहती हैं। शत–सहस्र नदियां उसके भय से ही स्रवित होती हैं, धरती उसके भय से बोझ ढोती है, व बादल भी जल का भार लिये उसी के भय से उड़ा फिरता है। सूर्य तथा चन्द्र उसी के भय से लाखों मील के अन्नत–पथ पर दौड़े चले जा रहे हैं। सिद्ध, बुद्ध व देवराज इन्द्र भी उसी के भय में**

रहते हैं। अधर का आकाश भी उसी के भय से स्थित है, शक्तिशाली तथा सबल योद्धा भी उससे डरते हैं। जीव–समूहों का संसार में आना–जाना सभी ईश्वर के भय के कारण होता है।"

एक अन्य पद में भी गुरुनानक देव ने ये विचार भी अभिव्यक्त किए है कि साधु–सन्तों के लिए ही ईश्वर विश्व को सुरक्षित रखे हैं। साधु–सन्त अपने को पहचानते व सत्य का निरन्तर चिन्तन करते हैं। ईश्वरीय सत्य और प्रेम उनके पावन हृदय में सदैव निर्वासित हैं। नानक देव जी कहते हैं कि वे साधु–सन्त के पूर्णतः दास हैं। वे इस विश्व को 'संघर्ष–क्षेत्र' के सदृश भी समझते हैं।

मानवात्मा व इसका स्वरुप

संसार के लगभग सभी धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकाराते हैं। परन्तु आत्मा के स्वरुप सम्बन्धी प्रश्न पर वे अपने विश्वासानुसार दो वर्गों में बंट जाते हैं। एक वर्ग का विश्वास है कि ईश्वर ने विभिन्न स्वभावों की आत्माओं की रचना की है व वे ईश्वरीय अनुज्ञा से मिट्टी से सर्जित शरीरों में प्रवेश कर पायी हैं। जन्म से मृत्यु तक आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता है। आत्माओं के पथ–प्रदर्शन के लिए ईश्वर ने अपने दूतों व पैगम्बरों के माध्यम से आदेश भी प्रस्तुत किए हैं।

प्रदत्त आदेशों की परिभाषानुसार उत्तम कार्य करने वाले जीवों को, शरीर के विसर्जन हो जाने पर, स्वर्ग ही प्राप्त होगा तथा जहाँ वे विभिन्न प्रकार का आनन्दास्वादन अनुभव करेंगे। इस प्रकार का विश्वास रखने वाले धर्मों में प्रायः स्वर्ग की व्याख्या एक ऐसे स्थान के रुप में हुयी थी, जहाँ उत्तम कृत्य करने वाले जीव दीर्घवर्षीय आनन्द का लाभ उठाते थे और कुआं एक ऐसा स्थान बताया गया था, जहाँ बुरी आत्माएं नित्य उत्पीड़न सहन करती थी।

दूसरे वर्ग में लगभग वे सब धर्म आतें थे जिनका उदय भारतवर्ष की धरती पर हुआ। इस वर्ग के मतानुसार समस्त आत्माएँ सार रुप में समान थे तथा विभिन्न सम्पर्कों में वे अलग स्वभाव का विकास करती थी। मनुष्य जिस बिन्दु पर विचार करता था जिस भी शब्द का उच्चारण करता था या जो भी कार्य करता था, वे सब उसके मन पर प्रतिबिम्ब आरोपित करते थे। जब वे विचार, शब्द व कार्य पुनः–पुनः आवृत्त होते थे।

इन स्वभावों से प्रकृति निर्मित होती थी तथा उसका मानसिक धरातल उन विचारों, शब्दों और कृत्यों के परिणाम स्वरुप दिन–प्रति–दिन परिवर्तित होता रहता था। जब बाह्य वातावरण की तरंगें मानसिक संयन्त्र से टकराती थी, तो परिणामतः उदित होने वाली प्रतिक्रिया ही पीड़ा और आनन्द का कारण बनती थी। दूसरे शब्दों में, गुरुनानक देवजी के अनुसार **"मानवता मन को संयमित कर सकती है। व मनुष्य के जीवन से दु:ख एवं अवसाद का अन्त कर सकती है, क्योंकि घृणा, क्रोध व द्वेष की धारणाओं से ही दु:ख पनपता है।"** असन्तुष्ट वासनाएँ भी अवसाद का कारण बनती हैं। जब प्रदोषों को मन से विसर्जित कर दिया जाता है तो आत्मा इन त्रुटियों से पूर्णतः मुक्त हो जाती है व परिणामतः शान्त व उल्लासित जीवन मनुष्य को उपलब्ध होता है।

अतः इस वर्ग के विचारक यह नहीं सिखाते कि कोई बाह्य माध्यम अथवा यमदूत मानवात्मा को स्वर्ग या नरक में ले जाते हैं। उनका मानना है कि स्वर्ग या नरक आत्मा की मानसिक स्थितियाँ मात्र हैं, और मनुष्य को स्वर्गादि के लिए मृत्यु तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जीवन्मुक्ति अर्थात् इस संसार में रहते–रहते ही मुक्ति लाभ प्राप्त कर सकता है।

गुरु नानक ने अपनी पुस्तक जपुजी में अध्यात्म–विकास के विभिन्न खण्डों– धर्म–खण्ड, ज्ञान–खण्ड, श्रम–खण्ड, करम–खण्ड व सच–खण्ड की व्याख्या करते हुए कि यह कहा है कि

"शरीरांत के साथ आत्मा का अस्तित्व नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा मरती नहीं, न ही तैरती या डूबती है। अपने अतीत के संस्कारों से प्रभावित वह निजी सामर्थ्यानुसार कर्म करती व ईश्वरेच्छा से (संसार में) आती और जाती है। यहाँ जगत में तथा इसके उपरांत जगतेतर स्थितियों में उसकी इच्छा ही सर्वोपरि है।"

गुरुनानक देवजी के अनुसार पवन, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश आदि पंच–तत्त्वों के संगम से शरीर निर्मित होता है, व यह स्थिर और अस्थिर बुद्धि की क्रीडा–स्थली भी होता है।

नानक जी कहते हैं कि **"'हउमै' विकट रोग है तथा यह व्याधि सबमें पूर्णतः व्याप्त है। ईश्वर स्वयं गुरु–'शबद' के माध्यम से इसका उपचार करता है। वह आत्माओं की आत्मा है। वह घट–घट वासी है। गुरु–कृपा से ह्रदय ज्योतित होता, तथा जीव सहज में ही शान्ति लाभ करता है।"**

उनके अनुसार 'हउमै' के दीर्घ रोग से पीड़ित आत्मा को स्वस्थ बनाना ही व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य है। 'हउमै' द्वारा प्रेरित व्यक्ति स्वार्थोन्मुख होता है व ऐसी क्रियाएँ वैयक्तिकता का पोषण करती व उसे सुदृढ़तर बनाती हैं। वैयक्तिकता मनुष्य में ममत्व–भावना अर्थात् सांसारिक पदार्थों पर अधिकार की सबल कामना को सजग करती है व मनुष्य सोचता है कि इससे उसका जीवन प्रसन्न होगा। अधिकार के लिए संघर्ष करते हुए वह उसमें वासना, मोह, क्रोध और लोभ आदि अवश्य उत्पन्न होते हैं और कालक्रमानुसार ये दुर्गुण दृढ़ बंधन बन जाते हैं। पीड़ा और अवसाद उसके अपने कर्मों का ही परिणाम है।

राग मारु के अन्तर्गत एक पद में गुरु नानक ने हमारे कर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाली पीड़ा का सुन्दर रुपकात्मक चित्र भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने निम्न शब्दों में अपने भावों को प्रस्तुत किया है। **"मन कागज है, कर्म स्याही है, व अच्छे व बुरे लेख नित्य लिखे जा रहे हैं। हम ऐसे मार्ग पर अग्रसर हैं जहां हमारे पूर्वकर्म फलित होते हैं। रात्रि एक जाल है, दिवस उससे भी बड़ा जाल है, और बीतने वाले क्षण उसमें लगने वाली ग्रंथियाँ ही हैं। तुम सहर्ष उसके नीचे बिछे दाने को चुगते व दिन–दिन उसमें अधिक फँसते जाते हो। शरीर भट्ठी है, मन उसमें तप्त हो रहा लोहा है व उसके गिर्द पांच अग्नियां (पंच विकार) प्रज्वलित हैं। उस पर पापों का कोयला डाला जा रहा है, मन जलता है तथा (उसे थामने के लिए) चिंता की संसी है।"** परन्तु जीवन–पथ में परिवर्तन के लिए उसे ऐसे गुरु का पथ–प्रदर्शन अपेक्षित है, जिसने परमानन्द प्राप्ति के मार्ग को पहले से तय किया हो। अतः गुरुनानक देव ने मानवता व उसके स्वरुप का विस्तृत वर्णन किया है।

गुरु

गुरुनानक देव जी ने गुरु की आवश्यकता पर बल दिया है। यद्यपि विभिन्न मतों में उसे पृथक्–पृथक् संज्ञा प्रदान की गई है। कुछ उसे अपने इष्टदेव का अवतार बनाते हैं। दूसरों के लिए वह बुद्ध (अनुभवी जीव), पैगम्बर अथवा ईश्वर–दूत है, एवं गुरुनानक देव के अनुसार **"ईश्वर अजन्मा है।"** अतः सिख गुरु ईश्वर के अवतार नहीं माने जाते। वे अपने लिये अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त जीव के अतिरिक्त किसी विशेष पद का दावा भी नहीं करते व उन्होंने उस लक्ष्य को पाया है, जिसे सब खोजते हैं व उनमें अन्य गवेषकों के पथ–प्रदर्शन की सामर्थ्य भी है। उनके अनुसार गुरु के आदेशों का पालन करने वाला शिष्य भी आध्यात्मिक उन्नति के उसी शिखर पर पहुँचता व परमानन्द का भोग करता है, जो गुरु द्वारा ही प्रदान किया जाता है।

अतः प्रत्येक सिख से गुरु में पूर्ण विश्वास की आशा की गयी है। इस सिद्धान्त पर न कोई आपत्ति कर सकता है व न ही प्रश्न उठाया जा सकता है। उनके अनुसार मनुष्य को गुरु के सम्मुख पूर्ण समर्पण की भावना रखनी चाहिए।

मनुष्यों तथा उच्च श्रेणी के जन्तुओं के मानसिक धरातल के निर्माण में संस्कार रुप में उपलब्ध (जन्म–जात) प्रवृत्तियाँ अधिकांशतः बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। इन मूल–प्रवृत्तियों से मन की वे विशिष्ट तथा जन्म–जात प्रकृतियां अभिप्रेत थी जो किसी एक जाति के सभी प्राणियों में समान होती थी। ये सहज संवेदनाएँ ही हमारी समूची क्रियाशीलता का उद्देश्य निश्चित करती हैं तथा प्रेरणाशक्ति देती थी जिससे निरन्तर सक्रियता बनी रहती थी।

गुरुनानक देव ने कहा है कि मन की मूल क्रियाएँ अधिकतर अतार्किक अथवा अचेतन होती हैं। चेतन–तर्क की शक्ति बाद की उपज है, जो सहज–वृत्तियों, संवेगों एवं इच्छाओं से बने मानसिक प्रासाद पर, अति सुविकसित मानव प्राणियों में भी, मात्र बाह्य रुप से सतही प्रभाव ही डालती हैं। अधिकांश दशाओं में तर्क–शक्ति का प्रत्यक्ष महत्त्व भ्रामक है व वह गहराई में स्थित सहज–वृत्तियों एवं इच्छाओं द्वारा प्रेरित कार्यों पर पूर्णतः आवरण डाल देती है।

गुरु के लक्षण

गुरु नानक जी यह कदापि नहीं चाहते कि उनका शिष्य गुरु में अन्ध–विश्वास रखे। वे तो उसे व्यापार से पूर्व, अपनी सूध–बूध से सामग्री की सर्वांग जांच कर लेने का आदेश प्रदान करते हैं। वे कहते हैं, **"ऐ मृगाक्षी, इस गहन तथा महत्त्वपूर्ण वचन को स्मरण रख, कि व्यापार से पूर्व सामग्री की सर्वांगीण पहचान अनिवार्य है।"** उनके अनुसार धार्मिक जीवन एक अनुभव है व जब तक व्यक्ति गुरु की शिक्षाओं का अभ्यास नहीं करेगा वह गुरु का महत्त्व नहीं जान सकता तथा जिसने गुरु–निर्दिष्ट मार्ग का अभ्यास किया, वही व्यापार में लाभ उठाकर घर लौटता है। गुरु मनुष्य को ईश्वर के सदन तक ले जाने वाला एक निर्देशक है।

गुरुनानक देव गुरु के लक्षणों के विषय में कहते हैं कि **"प्रभु स्वयं एक अति सुन्दर प्रासाद है, जिसमें माणिक, लाल, मुक्ता, जवाहर तथा हीरे भरे हैं और जो कंचन–निर्मित होने से मनोहारी है। परन्तु सीढ़ी के बिना उस दुर्ग पर क्यों कर चढ़ा जाय? तुम गुरु के सहयोग एवं हरि में मन लीन करके उस अपूर्व सौंदर्य को देख सकते हो। वहाँ के लिए गरु ही सीढी है। गुरु ही नाव तथा हरि–नाम से भरा व्यापारिक–बेड़ा है। संसार–सागर से पार होने के लिए गुरु ही संतरण है। इस चिर–स्रवित नदी के तट पर वही एकमात्र पावन तीर्थ है। जब उसकी (प्रभु की) अनुज्ञा होती हैं, आत्मा उस तीर्थ में स्नान करती एवं पावनता लाभ करती है।"**

गुरुनानक देव पुनः कहते हैं कि गुरु पूर्णतः उपकारक है व पूर्ण शान्ति उसमें निहित है। वह त्रैलोक्य में उजाला करने वाला एक प्रकाश–पुंज है। गुरु से प्यार करने वाला व्यक्ति ही चिर–शान्ति प्राप्त कर सकता है। सच्चे गुरु से साक्षात् होने पर व्यक्ति सत्यानुशासित जीवन प्राप्त करता है। गुरु रूपी सोपान पर चढ़ते हुए मनुष्य ऊँचे से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकता है। परन्तु गुरु की उपलब्धि मात्र उसकी (प्रभु की) कृपा से ही सम्भव होती है व उसके मिलन से मृत्यु–भय विनष्ट हो जाता है।

सब के लिए एकमात्र मार्ग

गुरुनानक के उदय–काल में हिन्दुओं का विश्वास था कि विभिन्न वर्गों के धर्म पूर्णतः भिन्न हैं। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर समझते थे व पैगम्बर मुहम्मद पर विश्वास न करने वाले के नरक–गामी होने का दावा किया करते थे। गुरु नानक ने पूर्णतः स्वीकार किया कि **"धर्म केवल एक ही है, कोई भी सत्य का अभ्यास कर सकता है। प्रत्येक युग में परम–स्थिति की प्राप्ति गुरु की इन शिक्षाओं से ही सम्भव हो पाती है। सम्प्रदाय–विशेष का स्वरुप मात्र स्वीकार कर लेना अथवा किसी मत के स्मृति–चिन्हों को धारण करना बेकार है।"** जब कोई हिन्दू समाज में प्रवेश करता है तो वह गले में सूत का धागा पहनता है। मुसलमान अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा निरन्तर करता है तथा उसकी मान्यता है कि पैगम्बर मुहम्मद में विश्वास बनाए बिना किसी भी व्यक्ति को समाज में स्थान नहीं मिलता। परन्तु गुरुनानक देव ने सबके लिए एक मार्ग प्रशस्त किया, उनके अनुसार **"बिना उत्तम कर्मों के कोई स्वर्ग में नहीं जा सकता।"**

गुरु नानक सम्प्रदायों, वर्णों, जातियों या देशों के आश्रय मनुष्यों का वर्गीकरण कदापि नहीं करते। उनके मतानुसार मनुष्य दो प्रकार के हैं–गुरुमुख (ईश्वरोन्मुख) तथा मनमुख (अहमन्य)। पूर्व–कथित प्रकार के जीव भगवान् की ओर उन्मुख रहते व सत्य का अभ्यास करते एवं समूची मानवता के लाभार्थ हेतु कार्य करते हैं। उत्तर–कथित जीव अपने ही मन की सनक का अनुसरण करते तथा छल, क्रुरता, मिथ्यात्व व स्वार्थ का व्यवहार करते हैं। मनुष्य अपने को कुछ भी समझे, किन्तु यदि उसे मानव–जीवन के दुःखों व कष्टों से छुटकारा पाना है, तो उसी निश्चित पथ पर कदम बढ़ाना ही होगा। यह नियन्त्रण सबके लिए समान ही है।

मार्ग की जानकारी होना व गुरु–कृपा से ईश्वर–लब्धि ही सच्चे योगी के गुण हैं। अपने को अन्तर्मुखी करने व गुरु–कृपा से वर्तमान जीवन में 'स्व' को मारने वाला व्यक्ति ही काजी है। ब्रह्म का चिन्तन करने वाला ही ब्राह्मण है। वह अपनी तथा अपनी कई पीढ़ियों की सुरक्षा स्वयं करता है। अपने हृदय को पवित्र करने वाला जीव ही ज्ञानी है। अपावनता का विनाशक ही मुसलमान है। शास्त्रों को पढ़कर अभ्यास में लाने वाला व्यक्ति ही ईश्वर को स्वीकार्य होता है व वही ईश्वर के दरबार का पद–चिह्न शिरोधार्य करता है।

गुरुनानक देवजी कहते हैं कि **"जो ब्रह्म को पहचाने, उसके लिए जप, तप एवं संयम का अभ्यास करे तथा संतोष और सद्भाव पर दृढ़ आचरण करे, वही ब्राह्मण है। वह सब बंधनों को भंग करता तथा मुक्ति–लाभ करता है। ऐसा ब्राह्मण पूजने योग्य है। खत्री वीरता के कर्म करता व उदारता व सद्भावना का मूर्त रुप होता है। दान देते हुए वह पात्र की योग्यता की जांच करता है। ऐसा खत्री उस (ईश्वर) के दरबार में स्वीकार्य है। किन्तु यदि वह लोभ और लोलुपता से मिथ्या व्यवहार करता है, तो उसे अपने दुष्कर्मों का दण्ड भुगतना पड़ेगा।"**

एक पद में गुरु नानक ने सृजन की प्रकिया का विस्तारपूर्वक चित्रण किया है। वे कहते हैं कि **"परमसत्य में से पवन व पवन से जल की उत्पत्ति हई। जल से तीनों लोकों का निर्माण किया गया। घर–घर में उसकी ज्योति व्याप्त है, किन्तु इस सम्पर्क के कारण विशुद्धता अशुद्धता को आत्मसात नहीं करती। 'शबद' में आसक्ति द्वारा ही जीव सम्मान पाता है।"**

गुरुनानक देवजी द्वारा इस धरती को 'घरमसाल' कहकर पुकारा गया है, अर्थात् एक ऐसी पाठशाला जहाँ धर्म की शिक्षा पूर्णतः उपलब्ध होती है। 'सिद्ध गोष्ठी' में वे यह कहते हैं, **"गुरमुखों (ईश्वर–प्रेमियों) की उत्क्रान्ति के लिए ही परम सत्य ने धरती रची।"**

वे पुनः कहते हैं कि **"जैसे पेड़ की पहचान उस पर उपजने वाले फल से होती है, वैसे ही मनुष्य का धर्म उसके कर्मों से जाना जाता है। ऐसे परिधान, चिह्न, आकार, अनुष्ठान, धर्मविधियाँ तथा रीति–रिवाज, जो उत्तम कर्मों की प्रेरणा न दें, मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर दूर तक ले जाने में पूर्णतः असमर्थ हैं। वास्तविक समस्या मन को अनैतिक प्रवृत्तियों से मुक्त करने की है। यदि वह लक्ष्य पूर्ण न हुआ, तो हमारा सब जप–तप व्यर्थ है।"**

गुरुनानक देवजी कहते हैं, जो गुरु की सेवा में आता है, वही सब कामनाओं से मुक्त हो जाता है। वे दूसरों में त्याग–भावना का प्रचार करते हैं। परन्तु अपने मठ को भी स्थापित करते हैं।

वे कहते हैं कि 'शबद' के प्रतिपादन से ही शोक का अन्त सम्भव है। जो जीव सच्चे 'शबद' द्वारा अपने को पवित्र बनाता है, वही वास्तविक योग का पूर्णतः जानकार है। नानक कहते हैं, ऐसा योगी तीनों लोकों का हितैषी ही है।

उनके अनुसार, हम तीर्थों पर जाकर निवास करें या मौन साधना अथवा जप, तप, संयम, सद्भावना तथा अन्य उत्तम कर्मों का अभ्यास करें, परन्तु परमसत्य के अभाव में ये सब पूर्णतः व्यर्थ हैं। जो कुछ मनुष्य बीजता है वही वह काटता है; सद्गुणों की प्राप्ति के बिना जीवन पूर्णतः निरर्थक है। वे कहते हैं कि **"केवल वही (आत्मा) शान्ति–लाभ करती है, जो सद्गुणों से युक्त है। जो अपने दुर्गुणों का त्याग कर स्वयं को उसमें (प्रभु में) लीन कर लेती है, वही गुरु की परम शिष्या है।"**

उनके अनुसार आध्यात्मिक जीवन का आधार पूर्णतः नैतिक आचरण है। हृदय से पवित्र जीव ही ईश्वर को प्राप्त करेगा। सत्य पवित्र पात्र (हृदय) में ही स्थिर रहता है, परन्तु शुद्ध आचरण अपनाने वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। मनुष्य को अधर्मता का त्याग कर सद्गुणों का अनुसरण करना चाहिए। जो लोग उचित और अनुचित अवसर में भेद नहीं करते, वे पुनः पापों के कीचड़ में मलिन होते हैं।

वे कहते हैं कि गुरु के सहयोग के बिना मनुष्य अधूरा है व समाज भी अधूरा है। गुरु नानक ने स्त्रियों को घटिया अथवा समाज में नीची तथा बुरी समझी जाने के विरोद्ध में भी जोरदार आवाज उठाई थी।

● गुरुनानक देव : राजनीतिक विचार

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने गुरुनानक देवजी को कैद कर लिया था व अनेक यातनाएँ दी थी। गुरु नानक प्रथम महापुरुष थे जिन्होंने निडर होकर राजाओं, रजवाड़ों व सुल्तानों के अत्याचारों को नंगा किया व उनकी अत्यन्त तीव्र आलोचना की। उन्होंने निम्न शब्दों में अपने विचार प्रस्तुत किए **"प्रत्येक भिक्षुक बादशाह बनने के स्वप्न देखता है, प्रत्येक पुरुष पंडित बनने का प्रयत्न करता है। अंधे पारखी बन गए हैं, शरारती आदमी चौधरी बन गए हैं।"** तत्कालीन समय में धार्मिक स्वाधीनता परले दर्जे की हीन पराधीनता का रूप धारण कर चुकी थी व धन–सम्पत्ति, राजनैतिक पदवी आदि के लिए धार्मिक व सामाजिक स्वाधीनता पूर्णतः बलिदान कर दी जाती थी व राजनैतिक स्वाधीनता पूर्णतः एक उपहास बनकर रह गई थी।

गुरुनानक देव के लिये स्वाधीनता एक मानसिक व आत्मिक अवस्था है। जो राजप्रबन्ध, बल प्रयोग तथा अत्याचार के आधार पर स्थापित किया गया हो। परन्तु उसमें संशय व क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। गुरु नानक ने निर्भय होकर सिकन्दर लोधी के अत्याचारों तथा बाबर के भारत पर घावों के समय किये अत्याचारों के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई थी।

परमात्मा को सम्बोधन करते हुए गुरु नानक ने यह कहा **"हे सर्वशक्तिमान प्रभु! तूने यमदूतों के रुप में मुगलों को भारत पर अत्याचार करने के लिये भेज दिया। चारों ओर मार–काट आरम्भ हो गई और निर्दोषों को जो मार पड़ी, क्या उनकी चीख–पुकार सुनकर तुम्हें दर्द अनुभव नहीं हुआ। यदि कोई शक्तिशाली दूसरे शक्तिशाली विरोधी को युद्ध में समाप्त कर देता तो कोई द्वेष न था, परन्तु यदि शेर, भेड़ों के समूह पर आ पड़े, तो भेड़ों के स्वामी से पूछना होता है कि उसने इनकी रक्षा क्यों नहीं की? यह हीरे जैसा देश कुत्तों ने नष्ट कर दिया और इसका मूल्य न समझा।"**

भारत की राजनीति में गुरु नानक प्रथम महापुरुष हुए हैं जो समस्त भारत के विषय में चिन्तित थे। वह पुनः लिखते हैं, **"हे प्रभु! तूने खुरासान को बाबर के घावों से बचाया, परन्तु भारत को उसके अत्याचार के डर में डाल दिया।"** उन्होंने भारत की धार्मिक व सामाजिक स्वाधीनता के लिये उनके अनेक शिष्यों ने बलिदान दिए व जब और कोई चारा न रहा तो उन्होंने तलवार भी उठाई थी। गुरु नानक ने बादशाही व राज्य–प्रभुता के समस्त सिद्धान्तों को नया रुप प्रदान किया था।

उनके अनुसार बादशाही व राज्य सत्ता के अधिकारी वे नहीं होते जो राष्ट्रों को लड़ा–भिड़ा कर अपनी सत्ता का विस्तार करने में लगे रहें। जो अपने गुणों के कारण राज्याधिकार प्राप्त करते हैं वही सच्चे नेता तथा राजनैतिक मुखिया बन सकते हैं।

गुरु नानक प्लेटो के इन विचारों से पूर्णतः सहमत थे कि **"जब तक राजा दार्शनिक नहीं बनते और दार्शनिक राजा नहीं बनते, नगरों में से अथवा मानव जाति में से दुःख दारिद्रय दूर नहीं हो सकता और नही आदर्श राज्य प्रबन्ध बन सकता है।"** गुरु नानक के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि **"जब तक गुरुमुख तथा ब्रह्मज्ञानी पुरुष राजा नहीं बनते, और जब तक राजा गुरुमुख तथा ब्रह्मज्ञानी नहीं बनते, नगरों के दुःख दारिद्रय दूर नहीं हो सकते।"** उनके अनुसार सामाजिक व राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करनी मानव–जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है।

विशेष

मूल प्राध्यात्मिक सिद्धान्त

- अनेक आध्यात्मिक व दार्शनिक शब्द जो सिख धर्म के सैद्धान्तिक ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं वे पूर्व व पश्चिम के धार्मिक ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुए थे परन्तु सिख धर्म में इन शब्दों का आंतरिक भाव व आध्यात्मिक अर्थ, कोषों में दिए गए साधारण अर्थों से पूर्णतः भिन्न है और हिन्दू अथवा बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों के सैद्धान्तिक भावों से भी पूर्णतः भिन्न है।
- **गुरु का सिद्धान्त**– हिन्दू विचारधारा व धर्म ग्रन्थों में शब्द 'गुरु' को अनेक अस्पष्ट भावों में प्रयुक्त करता है। 'गुरु' शब्द पिता, पूर्वज, बुजुर्ग पंडितों व अध्यापक के लिए प्रयुक्त होता है। साधारणतः 'गुरु' शब्द इन पंडितों व पुरोहितों के लिए प्रयुक्त होता है जो हिन्दु बच्चों को जनेऊ धारण कराते समय मंत्र देते हैं। सिख धर्म में 'गुरु' शब्द का प्रयोग केवल निरंकारी अवतार, सच्चे पैगम्बर जो सत्यता व ज्ञान में परमात्मा का ही रुप हों व प्रत्येक पहलू से योग्य पुरुष हों के लिए होता था।
- गुरु को या तो जन्म से ही निराकार का पूर्ण ज्ञान होता है अथवा जीवन में किसी समय उसे ब्रह्म की ज्योति तथा स्वरुप के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।

● राजनीति में गुरुनानक देव की भूमिका

सामाजिक, राजनीतिक व अध्यात्मिक प्रगति के क्षेत्र में गुरुनानक देव युगीन काल अत्यन्त उपलब्धियों का समय माना गया।

गुरु नानक के प्रादुर्भाव से एक शानदार नए युग का प्रवर्तन विश्व के समक्ष हुआ। गुरु नानक ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उन्होंने सामान्य लोगों में संकल्प भावना जगा कर और उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया था कि वे तत्कालीन बल प्रयोग की राजनीति और पाखंडपूर्ण धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध निर्भीक तथा स्पष्ट शब्दों में अपनी आवाज बुलन्द करी। गुरु नानक के इस महान कार्य के प्रति युग–मानस सदैव उनका ऋणी व कृतज्ञ रहेगा। तत्कालीन समय में तुर्की अल्पसंख्यक अपनी अपार प्रभुसत्ता स्थापित करने के इच्छुक थे, अतः उन्होंने लोगों को अवहेलित व अपमानित करना प्रारम्भ किया था। इसका भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ था कि लोग स्वाधीनता की भावना खो बैठे थे।

इस प्रकार की निराशाजनक स्थिति में, लोगों ने जब गुरु नानक के उदात्त व निर्भीक सन्देश को सुना तो उन्हें विश्वास हो गया कि वह एक ऐसे मसीहा हैं जिसमें अन्याय व अत्याचार की जड़ों पर आघात करने का भरपूर साहस है। उनके सन्देश में समय की चुनौतियों के प्रति एक वस्तुपरक व सर्जनात्मक प्रतिक्रिया पूर्णतः व्याप्त थी। गुरु नानक का सन्देश ह्रासोन्मुख हिन्दू सभ्यता की स्नायुत्रों में नए रक्त–संचार की भांति था। समस्त हिन्दू समाज को पुनर्जीवित करने व बंधनों को तोड़ने के लिए गुरु नानक ने अनेक प्रयत्न किये।

इसके लिए यह पूर्णतः अपेक्षित था कि वे गतिशील भूमिका अदा करें ताकि वे उन बुराइयों का और उन लोगों का भी भंडा–फोड़ कर सकते थे जो खुले आम अन्याय, चालाकी और दूषित आचरण के कारण समाज में अपनी जड़ें और साख पूर्णतः जमाए हुए थे। पुरोहितों और राजनीतिज्ञों का बेतुका और अधम पतन उतना ही आश्चर्यचकित कर देने वाला था जितना कि गुरु नानक के शिष्यों का सीधा व तीखा आरोहण, जो गुरु नानक की शिक्षाओं को कार्यरुप में परिणत करने के लिए अत्यन्त उत्सुक व सक्रिय थे।

राजनीति में गुरु नानक के सही स्थान को उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए पहले यह जरुरी है कि उस गलत प्रभाव को दूर किया जाए जो पूर्णतः पाश्चात्य विद्वानों की नितान्त गलत धारणा के कारण बना है। इन विद्वानों ने अप्रमाणिक भारतीय विद्वानों से संकेत लेकर यह स्थापित करने का भी प्रयत्न किया कि मूल रुप में गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित सिख–पंथ उस सिख–पंथ से पूर्णतः बहुत भिन्न था जिसका विकास दसवें गुरु ने आगे चलकर किया और जिस पर उनके अनुयायियों ने अमल किया था। सिखों के लिए यह ऊँचे दर्जे के बलिदान और महान संकट का समय था, लेकिन उनके आलोचक यह न समझ सके कि इस आन्दोलन की ऊपर से असमान दिखने वाली धाराओं में कार्य और लक्ष्य की गहरी समानता है। अतीत से एकदम विच्छेद को पूर्ण अनुपस्थिति चूंकि सिख–धर्म की एक प्रमुख विशेषता है, अतः इसे एक गतिमान प्रक्रिया मानकर इसकी प्रगति पर भी विचार किया जाना चाहिए। इस आन्दोलन की विभिन्न विशेषताओं की अलग–अलग खानों में रख कर व्याख्या करने से कर इसे एक शानदार श्रद्धांजलि प्रदान की जा सकती है।

उनके मतानुसार 15वीं शताब्दी में मौजूद परिस्थितियों ने ऐसी संभावनाओं के द्वार पूर्णतः खोल दिए कि सिख–धर्म स्वयं को अस्तप्रायः हिन्दू सभ्यता के विश्वजनीन चर्च के रुप में ही विकसित करे। उनका विचार था कि केवल सिख–धर्म ही इस्लाम की चुनौती का प्रभावशाली व सर्जनात्मक उत्तर दे सकता था। दरअसल गुरु नानक की शिक्षाएं हिन्दू संसार पर तुर्की आक्रमण का धार्मिक धरातल पर यथार्थ

उत्तर स्वरुप थीं। उत्तरवर्ती सिखों के सामने जो समस्याएं थीं उनके प्रति उनकी दृष्टि यथार्थकारी व सुस्थिर नहीं थी, पर उन्हें इसका शानदार श्रेय देने के बजाय, सर जदुनाथ सरकार जैसे परवर्ती इतिहासकारों ने सिख धर्म की लक्ष्यगत बुनियादी एकता की उपेक्षा की व इस रुपान्तरण को उन्होंने अशुभ कहकर पुकारा। इस प्रकार उनके निष्कर्ष विरोधात्मक और त्रुटिपूर्ण थे।

आलोचनात्मक व्याख्या के परीक्षण में वे कदापि खरे न उतर सके। उनके अनुसार जब सिखों ने मुगल साम्राज्य की अन्याय और अत्याचारपूर्ण नीति के फलस्वरुप फौजी जीवन अपनाना स्वीकार कर लिया तो वे अपना जन्मसिद्ध आध्यात्मिक अधिकार पूर्णतः खो बैठे। उन्होंने अपने आध्यात्मिक खजाने को एक भौतिक साम्राज्य स्थापित करने के विकृत राजनीतिक प्रयोग में ही गंवा दिया था। उन्होंने यह आशंका भी व्यक्त की है कि सिख–धर्म में समन्वयात्मक हिन्दू–धर्म का अंग बनने की प्रवृत्ति तेजी से ही उभर रही थी, जिससे गुरु नानक की सर्जनात्मक प्रतिभा ने सिख धर्म को अलग प्रतिष्ठित कर दिया था। पर टॉयनबी की आशंकाएं झुठी सिद्ध हुई हैं व उनके निष्कर्ष अप्रामाणिक और गलत साबित हुए हैं। टॉयनबी मानते हैं कि **"तलवार से हिंसा समाप्त हो जाती है।"** पर आश्चर्य है कि वे सिखों द्वारा तलवार के प्रयोग–औचित्य से भी पूर्णतः इन्कार करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुरु नानक ने उन बुराइयों को सही तौर पर समझा था जिनसे हिन्दू व मुसलमान समाज पीड़ित थे। हिन्दू मृतप्रायः पुरानी रुढ़ियों के भार तले दबे हुए थे व स्वतंत्र रुप से मुक्त चिन्तन की सामर्थ्य खो बैठे थे तथा दूसरी ओर मुट्ठीभर तुर्की सैनिक मुसलमानों को पदाक्रान्त करने पर तुले हुए थे। शासन–तंत्र, अधिकारी–वर्ग और पुरोहित–वर्ग इन तीनों वर्गों के विरोधाभासपूर्ण व अजीब समझौते के कारण केवल स्वतंत्रता ही पूरी तरह नष्ट नहीं हुई थी बल्कि जान–बूझकर एक बचकाना श्रद्धालू पैदा किया गया था ताकि वे सभी लाभ पूर्णतः उठा सकें। तुर्की सैनिक दल यह पूर्णतः जानता था कि विचार, स्वतंत्रता, अन्याय, अत्याचार व दमन के खिलाफ उठने वाली क्रान्ति का पूर्व रुप ही है। अपनी सर्वोच्च सत्ता को बनाए रखने के लिए उन्होंने सहज–विश्वास के प्रसार में योगदान देना जरुरी समझा। जिस प्रकार एक सहज विश्वासी व्यक्ति क्रुद्ध देवता के प्रति श्रद्धा से नष्ट हो जाता है व उसी प्रकार उसके लिए किसी अन्यायी के अन्याय व दमन के प्रति झुक जाना भी सुविधापरक हो सकता है।

अतः ब्राह्मण–वर्ग जिस अन्ध–श्रद्धा की भावना को अपने भक्तों में उपजा रहे थे, वह भावना तुर्की शासकों की दमन–नीति को निर्लज्जतापूर्वक आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो रही थी। शासक–वर्ग व पुरोहित–वर्ग के इस मौन समझौते से शासन के अन्य कर्मचारियों ने भी पूर्णतः लाभ उठाया क्योंकि अंध–श्रद्धा के प्रसार के माध्यम से वे अपनी आर्थिक शोषण की नीति से पीड़ित लोगों को दिलासा दे सकते थे। यह सहज विश्वासी जनता पर तीन तरफा आक्रमण था और इससे एक दुष्चक्र भी चल पड़ा था। ज्यों–ज्यों लोग अधिक सहज विश्वासी होते गए त्यों–त्यों उनमें तुर्की शासकों, ब्राह्मणों और मुसलमानों के लाभ के लिए दास–वृत्ति के समान जी–हजूरी ही बढ़ती गयी थी। इस प्रकार के घुटना–टिकाऊ समर्पण के कारण दासवृत्ति पैदा हो गयी जिससे कि शासक–वर्ग में और ज्यादा अत्याचार करने का दुःसाहस बढ़ा। गुरु नानक के लिए इस दुष्चक्र को तोड़ना अनिवार्य हो गया था। उन्होंने लोगों के रोगों को ठीक–ठीक समझा व वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विचार–स्वतंत्रता की मनाही के कारण विवेकशून्य परम्परा के प्रति श्रद्धा–भाव और दमनपूर्ण अत्याचारी सरकार के प्रति घटिया किस्म का मूर्खतापूर्ण समर्पण भाव ही पैदा हुआ है। शताब्दियों पुराने अतीत से गृहीत इन गौरवपूर्ण परम्पराओं के पूर्ण उन्मूलन के लिए ही गुरु नानक ने दूर–दूर तक यात्राएँ भी की थी।

वे अपने परिवेश को समझना चाहते थे और मनुष्य–मनुष्य के बीच व्याप्त भातृ–भाव की शिक्षा भी प्रदान करना चाहते थे व यह प्रस्तुत करना चाहते थे कि सभी एक ही परम–पिता परमात्मा की सन्तान हैं व पर प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि गुरु नानक जिस स्वतंत्रता के आकांक्षी थे वह एक अराजकतावादी की निरपेक्ष या निर्वाध स्वतंत्रता ही नहीं थी। गुरु नानक का लक्ष्य था ऐसी स्वाधीनता जिसमें अनुशासन हो, स्वाभिमान-के साथ–साथ विनम्रता भी हो। उनके लिए 'स्वाधीनता' का अर्थ था **"विवेकहीन परम्पराओं के प्रति लगाव से मुक्ति' व 'अभिमान' का अर्थ बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान व मूलत: स्वाभिमान से था।"** इस प्रकार, आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओं के समाधान के लिए एक बलशाली व सुविचारित दृष्टि का विकास हुआ था।

● छात्र क्रियाकलाप

1. गुरुनानक देव के आध्यात्मिक सिद्धांत पर चर्चा कीजिए।

___

___

___

___

2. गुरुनानक देव के राजनीति में भूमिका पर प्रकाश डालिए।

___

___

___

___

● सारांश

- वरजीलियस फर्म के कथनानुसार सिख धर्म, अनिवार्यत: चरित्र–प्रशिक्षण है। वह ऐसा प्रशिक्षण है जिसका निरीक्षण स्वयं गुरु नानक व उनके नौ उत्तराधिकारियों ने किया था। उनके अनुसार सिख धर्म के बुनियादी सिद्धांत निम्न थे–मनुष्यता की सेवा, मनुष्य–मनुष्य के बीच समानता, एक ईश्वर की आराधना, गुरु के अनुग्रह पर बल, न्यायसंगत और नि:स्वार्थ कार्य के लिए तलवार चलाना और 'संगत' का प्रभावशाली ढंग से उपयोग करना।
- गुरुनानक देवजी ने टॉयनबी के निराशाजनक विचारों से आश्चर्यान्वित ढंग से रुचिकर व शानदार तुलना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि सिख धर्म आज भी एक जबर्दस्त शक्तिशाली व जीवंत आस्था है क्योंकि इसमें मानवीय ऊष्मा, उच्चकोटि की नैतिकता, सच्ची प्राध्यात्मिकता है व व्यावहारिक जीवन में इनका उपयोग होने के कारण इनका मूल्य है। उनके द्वारा कहा गया था कि **"जहाँ कहीं भी सिख हैं, वे जीवंत प्रमाण हैं।"**
- गुरु नानक देवजी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सिख–धर्म की दो विशिष्ट विशेषताएं–समानता व प्रजातंत्र लोगों के लिए जबरदस्त आकर्षण सिद्ध होती हैं। उनके अनुसार समानता की भावना सिखों के मन में सदैव सर्वोपरि ही रही है।

- गुरुमत में, जिसके अन्तर्गत 'संगत' का संस्थान क्रियाशील रहता है, सभी सदस्यों को पूर्णतः समान धरातल पर ही रखा जाता है। गुरुमत व संगत के पीछे समानता की यह भावना इतनी तीव्र थी कि गुरुमत के राजनैतिक महत्त्व को नष्ट कर देने के बावजूद, रणजीत सिंह गुरुमत को प्रेरित करने वाली भावना को झुठला ना सके।

● अभ्यास प्रश्न

1. गुरुनानक देव का संक्षिप्त जीवन परिचय दीजिए।
2. गुरुनानक देव के सामाजिक विचारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. गुरुनानक देव के राजनीतिक विचारों का उल्लेख कीजिए।

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. गुरु नानक की रचनाओं का संग्रह किसके द्वारा किया गया?
   (अ) गुरु गोविंद सिंह (ब) बंदा बैरागी
   (स) गुरु अर्जुनदेव (द) ज्ञानदेव
2. सिक्खों के प्रथम गुरु नानक किस मुगल बादशाह के समकालीन थे?
   (अ) अकबर और जहाँगीर (ब) बाबर और हुमायूँ
   (स) शाहजहाँ और औरंगजेब (द) इनमें से कोई नहीं
3. गुरु नानक देव जी ने किस धर्म की स्थापना की थी?
   (अ) पारसी (ब) बौद्ध
   (स) जैन (द) सिख
4. गुरु ग्रन्थ साहिब में नानक देव जी के कितने भजन लिखित हैं?
   (अ) 970 (ब) 850
   (स) 974 (द) 770
5. गुरु नानक के जन्म के समय दिल्ली पर किसका शासन था?
   (अ) बहलोल लोदी (ब) सिकंदर लोदी
   (स) इब्राहिम लोदी (द) अकबर
6. गुरु नानक देव ने कौन सी प्रथा शुरु की?
   (अ) भौज (ब) प्रति भौज
   (स) लंगर (द) इनमें से कोई नहीं
7. गुरु नानक देव ने कितने उपदेश दिए?
   (अ) 9 (ब) 6
   (स) 6 (द) 10

उत्तरमाला

1. (स) 2. (ब) 3. (द) 4. (स) 5. (अ)
6. (स) 7. (द)

8

गुरुगोविन्द सिंह जी के राजनीतिक व सामाजिक विचार
(POLITICAL AND SOCIAL IDEAS OF GURU GOVIND SINGH JI)

संरचना (Structure)

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- जीवन परिचय
- खालसा पंथ की स्थापना
- गुरु गोविन्द सिंह के राजनीतिक विचार
- गुरु गोविन्द सिंह के सामाजिक विचार
  - सारांश
  - अभ्यास प्रश्न
  - बहुविकल्पीय प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगे:

➡ गुरु गोविन्द सिंह के सामाजिक विचारों को।

➡ गुरु गोविन्द सिंह के राजनीतिक विचारों को।

● प्रस्तावना

श्री गुरु गोविंद सिंह जी के जीवन से हमें बहुत कुछ सीखने को मिलता है। गुरु गोविन्द सिंह जी सिक्खों के दसवें गुरु थे। वे एक महान शूरवीर और तेजस्वी नेता थे। उन्होंने मुगलो के अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई थी और 'सत श्री अकाल' का नारा दिया था। उन्होनें कायरों को वीर और वीरों को सिंह बना दिया था। काल का अवतार बनकर उन्होंने शत्रुओं के छक्के छुडा दिए थे। इस तरह उन्होंने धर्म, जाति और राष्ट्र को नया जीवन दिया था। गोविन्द राय बचपन से ही स्वाभिमानी और शूरवीर थे। घुड़सवारी करना, हथियार चलाना, साथियों की दो टोलियां बनाकर युद्ध करना तथा शत्रु को जीतने के खेल खेलते थे।

वे खेल में अपने साथियों का नेतृत्व करते थे। उनकी बुद्धि बहुत तेज थी। उन्होंने आसानी से हिन्दी, संस्कृत और फारसी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। भारतीय इतिहास के पृष्ठों में सन्त सिपाही गुरु गोविन्द सिंह जी का नाम अमिट हैं। जब–जब संसार मे अत्याचार और अन्याय बढ़ता है तो ईश्वर या उसका अंश किसी महापुरुष के रूप में अवतरित होकर मुक्ति दिलाता है। देश, धर्म और

मानवता के लिए आजीवन संघर्ष करने वाले गुरु गोविन्द सिंह इसी प्रकार के अवतरित पुरुष थे। हिन्दू धर्म तथा हिन्दुस्तान की रक्षा करने वाले सच्चे सिपाही गुरु गोविन्द सिंह सिक्ख धर्म के दसवें तथा अंतिम गुरु थे।

गुरु गोविंद सिंह सिक्खों के दसवें गुरु तो थे ही परन्तु एक प्रसिद्ध दार्शनिक, कवि व महान योद्धा भी थे। गोविंद राय के रूप में जन्में, वे नौवें सिख गुरुतेग बहादुर के बाद दसवें सिख गुरु के रूप में प्रकट हुए। इनके पिता गुरु तेग बहादुर को मुगल सम्राट औरंगजेब के आदेश के अनुसार सार्वजनिक रुप से सिर कलम का दिया गया था। क्योंकि उन्होने इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने से इनकार कर दिया था।

इसी अत्याचार के कारण गुरु गोविंद सिंह जी ने खालसा नामक सिख योद्धा समुदाय की स्थापना की थी। जिसे सिख धर्म के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना के रुप में जाना जाता है। उन्होंने पाँच लेखों को पाँच ककार के रूप में पेश किया व हर समय पहनने के लिए खालसा सिखों को आज्ञा दी। गुरु जी के अनेक योगदानो में सिख धर्म पर महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखना व सिखों के शाश्वत जीवित गुरु के रुप में गुरु ग्रन्थ साहिब को धारण करना शामिल हैं।

गुरु जी ने अनेक राजनीतिक व सामाजिक विचारी में सुधार किये व नए विचार प्रस्तुत किए जो मानव–जीवन के लिए अत्याधिक महत्वपूर्ण है। उनका एक प्रसिध्द दोहा सुनकर आज भी जोश व ऊर्जा का संचार होता है।

● जीवन परिचय

नाम	गुरु गोविंद सिंह
जन्म दिनांक	22 दिसंबर 1666
प्रसिद्धि कारण	सिखों के दसवें गुरु
पिता का नाम	गुरूतेग बहादुर
माता का नाम	गुजरी
पत्नी का नाम	जीतो
पुत्रों के नाम	अजीत सिंह, जुझार सिंह, जोरावर सिंह और फतेह सिंह
मृत्यु	7 अक्टूबर 1708

गुरु गोविन्द सिंह का जन्म पौष शुक्ल सप्तमी संवत् 1723 विक्रमी तदनुसार 22 दिसम्बर 1666 को हुआ था। इनके पिता का नाम गुरु तेग बहादुर था। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त 11 नवम्बर सन् 1685 को वे गुरु बने। गुरु गोविंद एक महान योद्धा, कवि, भक्त एवं आध्यात्मिक नेता थे। सन् 1699 में बैसाखी के दिन उन्होने **"खालसा पंथ"** की स्थापना की जो सिखों के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण दिन माना जाता है। गुरु गोविंद सिंह ने सिखों के पवित्र ग्रन्थ **"गुरु ग्रन्थ साहिब"** को पूरा किया तथा उन्हें गुरु रुप में सुशोभित किया। **"विचित्र नाटक"** को उनकी आत्मकथा कहा जाता हैं। यही उनके जीवन के विषय में जानकारी का सबसे महत्वपूर्ण स्त्रोत हैं। इसे **दसम ग्रन्थ** का एक भाग माना गया है।

गुरु गोविन्द सिंह की कृतियों के संकलन का नाम **"दसम ग्रन्थ"** है। गोविन्द सिंह के बचपन का नाम **"गोविन्द राय"** था। पटना के जिस घर में इनका जन्म हुआ था तथा जहाँ पर उन्होंने अपने पहले चार वर्ष बिताये थे। वहीं पर अब **"तखत श्री पटना साहिब"** स्थित है। सन् 1690 में ये अपने परिवार के साथ पंजाब आ गये थे। तथा मार्च सन् 1682 में उनका परिवार हिमालय के शिवालिक पहाडियो में स्थित **"चक्क नानकी"** नामक स्थान पर रहने लगे। यहीं से इन्होने शिक्षा आरम्भ की इन्होने फारसी, संस्कृत की शिक्षा ली व एक योद्धा बनने के लिए सैन्य कौशल सीखा। **"आनन्द पुर साहिब"** की ही चक्क नानकी कहा जाता था।

गोविन्द राय प्रत्येक दिन 'आनंदपुर सहिब' मे आध्यात्मिक आनन्द बाँटते, मानव मात्र में नैतिकता, निडरता व आध्यात्मिक जागृति का संदेश देते थे। आनंदपुर को वस्तुतः आनंदधाम ही मानते हैं। यहाँ पर सभी लोग वर्ण, रंग, जाति, संप्रदाय के भेदभाव के बिना समता, समानता एवं समरसता का आलौकिक ज्ञान प्राप्त करते थे। गोविंद जी शान्ति, क्षमा, सहनशीलता की मूर्ति थे।

गुरु गोविन्द सिंह की तीन पत्नियाँ थी। 21 जून, सन् 1677 को मात्र 10 वर्ष की उम्र में उनका विवाह **'माता जीतो'** के साथ आनंदपुर से लाभग 10 किलोमीटर दूर **बसंतगढ़** मे किया गया था। उन दोनों के 3 पुत्र हुए जिनके जाम क्रमशः **जुझार सिंह, जोरावर सिंह, फतेह सिंह थे।** 4 अप्रैल, 1694 का 28 वर्ष की अवस्था में इनका दूसरा विवाह **माता सुंदरी** के साथ आनंदपुर में हुआ। इनके पुत्र का नाम **अजित सिंह** था। 15 अप्रैल, 1700 को 33 वर्ष की अवस्था में उन्होंने **माता साहिब देवन** से विवाह किया। इनकी तीसरी पत्नी के कोई संतान नहीं थी। परन्तु सिख धर्म के पन्नों पर उनका दौर भी बहुत प्रभावशाली रहा।

अप्रैल 1685 ई० में **सिरमौर** के राजा मत प्रकाश कि निमंत्रण पर गुरु गोविंद सिंह ने अपने निवास को सिरमौर राज्य के **पांवटा** शहर में स्थानांतरित कर दिया। सिरमौर राज्य के गजट के अनुसार, राजा भीम चंद के साथ मतभेद के कारण गुरु जी को आनंदपुर सहिब छोड़ने के लिए बाध्य किया जाने लगा तथा वे वहाँ से टोका शहर में रहने लगे। मत प्रकाश ने गुरु जी को टोका से सिरमौर की राजधानी **"नाहन"** के लिए आमंत्रित किया। नाहन से वह पांवटा के लिए निकल गए। मत प्रकाश ने गढ़वाल के राजा फतेह शाह के खिलाफ अपनी स्थिति मजबूत करने के उद्देश्य से गुरु जी को अपने राज्य में आमंत्रित किया था।

राजा मत प्रकाश के अनुरोध पर गुरु जी ने पांवटा में बहुत कम समय में उनके अनुयायियों की मदद से एक किले का निर्माण करवाया। इन्होंने लगभग 3 साल पांवटा में व्यतीत किए व अनेक ग्रन्थों की रचना की।

वर्ष 1687 ई० में **नादौन की लड़ाई** में, गुरु गोविंद सिंह, भीम चंद और अन्य मित्र देशों की पहाडी राजाओ की सेनाओं के अलिफ खान और उनके सहयोगियों की सेनाओं को हरा दिया था। विचित्र नाटक (गुरु गोविंद सिंह द्वारा रचित आत्मकथा) व भट्ट वाहिस के अनुसार नादौन पर बने व्यास नदी के तट पर गुरु गोविंद सिंह आठ दिनों तक रहे व विभिन्न महत्वपूर्ण सैन्य प्रमुखों का भ्रमण किया।

भंगानी के युद्ध के कुछ दिन पश्चात्, रानी चंपा ने गुरु जी से आनंदपुर साहिब वापस लौट आने का अनुरोध किया। जिसे गुरु जी ने स्वीकार कर लिया। वह नवम्बर 1688 में वापस आनंदपुर साहिब आकर रहने लगे। सन् 1615 में, दिलावर खान ने अपने बेटे हुसैन खान द्वारा आनंदपुर साहिब पर हमला करवाया। उस युद्ध में हुसैन खान मारा गया व मुगल सेना हार गयी। अपने पुत्र की मृत्यु के बाद, दिलावर खान ने अपने आदमियों जुझार हाडा व चंदेल राय को शिवालिक भेज दिया। हालांकि, वे जसवाल के गज सिंह से

हार गये। पहाड़ी क्षेत्र में इस तरह के घटनाक्रम मुगल सम्राट औरंगजेब के लिए चिंता का कारण बन गए और उसने क्षेत्र में मुगल आधिकार बहाल करने के लिए सेना को अपने बेटे के साथ–साथ भेज दिया।

● खालसा पंथ की स्थापना

गुरु गोविंद सिंह जी का नेतृत्व सिख समुदाय के इतिहास में नए विचार लेकर आया। उन्होंने सन 1699 में बैसाखी के दिन खालसा पंथ की स्थापना की जो कि सिख धर्म के विधिवत् दीक्षा प्राप्त अनुयायियो का एक सामूहिक रूप है उसका निर्माण किया।

सिख समुदाय की एक सभा में उन्होने सबके समक्ष पूछा कि – **"कौन अपने सर का बलिदान देना चाहता है?"** उसी समय एक स्वयंसेवक इस बात के लिए आगे बढ़ा और कहा मै राजी हूँ। गुरु गोविंद सिंह उसे तम्बू में ले गए और कुछ देर बाद वापस लौटे एक खून से सनी हुई तलवार के साथ। गुरु जी ने फिर से सभा में मौजूद लोगों से वही सवाल किया। व उसी प्रकार एक और व्यक्ति राजी हो गया और उनके साथ गया परन्तु वे जब तम्बू से बाहर निकले तो खून से सनी तलवार अपने हाथ में लेकर आए। उसी प्रकार पाँचवा स्वयंसेवक जब उनके साथ तम्बू के भीतर गया, तो कुछ देर बाद गुरु गोविंद सिंह सभी जीवित सेवको को अपने साथ लेकर तम्बू से बाहर आये व उन्होने उन्हें पंज प्यारे या पहले खालसा के नाम से नवाजा।

उसके बाद गुरु गोविंद जी ने एक लोहे का कटोरा लिया और उसमे पानी व चीनी मिला कर दुधारी तलवार से घोल कर अमृत का नाम दिया। पहले 5 खालसा बनाने के बाद उन्हें छठवाँ खालसा का नाम दिया गया था। इसके पश्चात् इनका नाम गुरु गोविंद राय से गुरु गोविंद सिंह रख दिया गया था। उन्होंने खालसा के लिए 5 ककारों का महत्व समझाया और कहा–कैश, कंघा, कड़ा, किरपान, कच्चेरा।

इस 27 दिसम्बर सन् 1704 को दोनों छोटे सहिबजादे और जोरावर सिंह व फतेह सिंह जी को दीवारों में चुनवा दिया गया था। जब इस व्याख्यान के बारे में गुरुजी को पता चला तो उन्होंने औरंगजेब को एक जफरनामा लिखा जिसमें उन्होंने औरंगजेब को चेतावनी देते हुए कहा कि तेरा साम्राज्य नष्ट करने के लिए खालसा पंथ तैयार हो गया है।

8 मई सन् 1705 में **"मुक्तसर"** नामक स्थान पर मुगलों से भयानक युद्ध हुआ, जिसमें गुरुजी युद्ध जीत गए। अक्टूबर सन् 1706 में गुरुजी दक्षिण में गए। जहाँ पर आपको औरंगजेब की मृत्यु का पता लगा। औरंगजेब ने अपने मृत्यु के समय एक शिकायत पत्र लिखा था।

हैरानी की बात यह है कि जो अपना सब कुछ लुटा चुका था। वो फतहनामा लिख रहे थे और जिसके पास सब कुछ था वह शिकायत नामा लिख रहा था। इसका कारण सच्चाई थी। गुरु जी ने अपने युद्ध सदैव अत्याचार के विरूद्ध किए थे न कि अपने कोई निजी स्वार्थ के लिए।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद गुरु जी ने बहादुर शाह को बादशाह बनाने में मदद की। गुरुजी व बहादुरशाह के संबंध बहुत मधुर थे। इन दोनों के संबंधों के कारण सरहद का नवाब वजीत खाँ डर गया। अतः उसने अपने दो पठानों को गुरुजी के पीछे लगा दिया। इन पठानों ने गुरुजी पर धोखे से घातक प्रहार किये, जिसके कारण 7 अक्टूबर 1708 ई० में गुरु जी नांदेड साहिब में दिव्य ज्योति में लीन हो गए।

अपने अंतिम समय में इन्होंने सिक्खो को 'गुरु ग्रंथ सहिब' को अपना गुरु मानने को कहा व स्वयं भी माथा टेका। गुरुजी की मृत्यु के बाद माधोदास ने, जिसे गुरुजी ने सिक्ख बनाया व बंदासिंह बहादुर नाम दिया था, सरहद पर आक्रमण किया व अत्याचरियों की ईंट से ईंट बजा दी।

गुरु गोविंद जी के बारे में लाला दौलतराय, जो एक कट्टर आर्य समाजी थे, लिखते हैं; मैं चाहता तो स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानंद, परमहंस आदि के बारे में काफी कुछ लिखा जा सकता था। किंतु मैं उनके बारे में नहीं लिख सकता जो कि पूर्ण पुरुष नहीं है। मुझे पूर्ण पुरुष के समस्त गुण गुरु गोविंद सिंह में देखने को मिलते है। अतः लाला दौलतरय ने गुरु गोविंद सिंह के बारे में पूर्ण पुरुष नामक एक अच्छी पुस्तक लिखी है।

इसी प्रकार मुहम्मद अब्दुल लतीफ भी लिखता है कि जब मैं गुरु गोविंद सिंह जी के व्यक्तित्व के बारे में सोचता हूँ तो मुझे समझ में नहीं आता कि उनके किस पहलू का वर्णन करूँ। वे कभी मुझे मताधिराज नजर आते हैं। कभी महादानी, कभी फकीर नजीर आते है, कभी वे गुरु नजर आते है।

गुरु गोविन्द सिंह की रचनायें

गुरु गोविन्द की रचनाएँ सिक्ख धर्म के साथ–साथ अन्य धर्मों के व्यक्तियों को भी अनेक ज्ञानवर्धक शिक्षाएँ प्रदान करती हैं। उनकी रचनाओं में सामाजिक विचारों व राजनीतिक विचारों का विशेष मेल दृष्टिगोचर हुआ।

सामाजिक विचारों से परिपूर्ण रचनाएँ

- **जाप साहिब** – इसमें निरंकार के गुणवाचक नामों का संकलन निहित है।
- **अकाल उस्तत** – इसमें अकाल पुरख की अस्तुति व कर्म काण्ड पर भारी चोट की गयी है।
- **चण्डी चरित्र** – इसमें चण्डी को परमेश्वर की शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

राजनीतिक विचारों से परिपूर्ण रचनाएँ

- **शास्त्रनाम माला** – इसके अन्तर्गत अस्त्रों–शस्त्रों के रूप में गुरमत का वर्णन निहित है।
- **जफरनामा** – इसमें मुगल शासक औरंगजेब के नाम पत्र आदि का वर्णन प्राप्त होता है।
- **खालसा महिमा** – इसके अन्तर्गत खालसा की परिभाषा व खालसा के कृतित्वों का वर्णन किया गया है।

● गुरु गोविंद सिंह जी के राजनीतिक विचार

गुरु गोविंद सिंह को ज्ञान, सैन्य क्षमता व दूरदृष्टि का सम्मिश्रण कहा गया है। उनका जन्म पटना साहिब में हुआ था। जहाँ पर इनकी याद में एक सुन्दर गुरुद्वारा भी निर्मित कराया गया है। गुरु गोविंद सिंह को सिक्खो का दसवां व अन्तिम गुरु कहा जाता है। इन्होंने वर्ष 1699 ई० में खालसा पंथ की स्थापना की थी। तथा गोविन्द राय ने ही गुरु ग्रंथ साहिब को सिक्खों का गुरु घोषित किया। गुरु गोविंद सिंह जी ने अनेक विचार प्रस्तुत किए।

1. **धरम दी किरत करनी:** अपनी जीविका ईमानदारी पूर्वक कार्य करते हुए ही व्यतीत करनी चाहिए।

2. **दसवंड देना:** हमें अपनी कमाई का दसवां हिस्सा दान में दे देना चाहिए।

3. **गुरुबानी कंठ करनी:** गुरुबानी को कंठस्थ कर लेना चाहिए।

4. कम करन विच दरीदार नही करना : काम में बहुत मेहनत करें व काम को लेकर लापरवाही न बरतें।

5. धन, जवानी, तै कुल जात दा अभिमान नै करना : अपनी जवानी, जाति व कुल धर्म को लेकर घमंडी न हो, उससे बचे।

6. दुश्मन नाल साम, दाम, भेद, आदिक उपाय वर्तने अते उपरांत युद्ध करना : दुश्मन से भिड़ने पर पहले साम, दाम, दंड व भेद का सहारा लें, व अंत में ही आमने.सामने का युद्ध करना चाहिये।

7. किसी दि निंदा, चुगली, अतै इर्खा नै करना : किसी की चुगली व निंदा करने से बचे व किसी से ईर्ष्या करने के बजाय मेहनत करना सीखें।

8. परदेसी, लोरवान, दुखी, अपंग, मानुख दि यथाशक्त सेवा करनी : किसी भी विदेशी नागरिक, दुखी व्यक्ति, विकलांग व जरुरतमंद व्यक्ति की सहायता जरूर करनी चाहिए।

9. बचन करके पालना : अपने सारे वादों पर खरा उतरने की कोशिश जरुर करनी चाहिए।

10. शस्त्र विद्या अतै घोड़े दी सवारी दा अभ्यास करना : खुद को सुरक्षित रखने के लिए शारीरिक कार्य, हथियार चलाने व घुड़सवारी आदि का अभ्यास जरुर करें। आज के संदर्भ में नियामित व्यायाम जरूर करें।

11. जगत–जूठ तंबाकू बिखिया दी तियाग करना : किसी भी प्रकार के नशे व तंबाकू के सेवन करने से बचें।

● गुरु गोविंद सिंह जी के सामाजिक विचार

गुरु गोविंद सिंह जी ने जीवन को खुशहाल व शान्त बनाने के लिए कुछ विचार बताये थे।

1. यदि आप अपने अंदर के अहंकार को समाप्त कर देंगे; तो आपको वास्तविक शान्ति प्राप्त होगी। यह विचार अंहकारी व्यक्ति के लिए बहुत आवश्यक है। अहंकार व अहम की समाप्ति के बाद ही खुशहाल जीवन व्यतीत कर सकते है।

2. यदि आप केवल भविष्य के बारे में ही विचार करेंगे तो वर्तमान भी खो देंगे। यह विचार इस समय हर उस व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण है जो बड़े–बड़े सपने केवल देखते हैं, परन्तु कुछ भी करने से डरते हैं। वर्तमान में मेहनत करने से ही भविष्य उन्नत होता है।

3. यदि आप अच्छे कर्म करोगे तो ईश्वर को पा सकते हो। जो अच्छे कर्म करता है ईश्वर उसी की सहायता करता है। गुरु गोविंद सिंह जी इस विचार द्वारा समझाना चाहते थे की केवल पूजा–पाठ करने से ईश्वर नहीं मिलते। अच्छे कर्म भी आवश्यक है व यदि व्यक्ति अच्छे कर्म कर रहा है तो ईश्वर भी उसका साथ जरुर देता है।

4. जरुरतमंद लोगों की अवश्य सहायता करनी चाहिए। इस भागदौड़ भरी जिंदगी में एक दूसरे की मदद करने से ही सच्चा सुख मिलता है। नए जमाने में जब हर कोई व्यस्त है, तब जरुरत पड़ने पर मदद का हाथ बढ़ाना कर्तव्य हो जाता है। वस्तुतः जरुरतमंदो की सहायता करने पर भगवान भी प्रसन्न होते हैं।

5. अपनी कमाई का दसवां हिस्सा दान करना चाहिए। दान का मनुष्य के जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्म है। आप जब कमाते है तो ईश्वर आपका मददगार होता है। और जब आपके हाथ में कमाई आती है तो उससे दान जरुर करें क्योंकि वो ईश्वर का हिस्सा है व उसे जरुरतमंदो पर खर्च करना आपका कर्तव्य है।

6. स्वार्थ ही अशुभ संकल्पो को जन्म देता हैं। गुरु गोविंद सिंह जी कहते है कि स्वार्थ गलत काम की तरफ अग्रसर करता है। इसलिए स्वार्थ का त्याग करना चाहिए। निस्वार्थ भाव से किए गए काम को ही ईश्वर की मदद व सराहना मिलती है। अन्यथा स्वार्थ भाव से किया गया कार्य सदैव हानि देता है।

1. गुरु गोविन्द सिंह जी के जीवन परिचय पर प्रकाश डालिए।

2. गुरु गोविन्द सिंह जी के सामाजिक विचारों पर चर्चा कीजिए।

3. गुरु गोविन्द सिंह के खालसा पंथ की स्थापना करने के पीछे के कारणों पर चर्चा कीजिए।

4. गुरु गोविन्द सिंह जी की सामाजिक विचारों से परिपूर्ण रचनाओं का वर्णन कीजिए।

5. गुरु गोविन्द सिंह जी की राजनीतिक विचारों से परिपूर्ण रचनाओं का वर्णन कीजिए।

6. गुरु गोविन्द सिंह जी के राजनीतिक विचारों के महत्व पर प्रकाश डालिए।

● सारांश

- गुरु गोविन्द सिंह जी का जीवन अत्यंत प्रेरणादायक रहा। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र में हो अथवा राजनीतिक।
- गुरु गोविन्द सिंह जी ने बैसाखी के दिन खालसा पंथ की स्थापना की।
- गुरु गोविन्द सिंह जी ने सिखों के पवित्र ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' को पूर्ण किया व उन्होनें इस ग्रन्थ को सिखों का गुरू की उपाधि दी, जो आधुनिक समय में भी चली आ रही है।
- गुरु गोविन्द सिंह जी सिक्खों के दसवे व अन्तिम गुरु थे।
- विचित्र नाटक को गुरु गोविंद सिंह जी की आत्मकथा कहा जाता है।

● अभ्यास प्रश्न

1. गुरु गोविन्द सिंह के राजनीतिक विचारों का वर्णन कीजिए।
2. गुरू गोविन्द सिंह के खालसा पंथ की स्थापना के विषय में विस्तृत वर्णन कीजिए।

⇨ बहुविकल्पीय प्रश्न

1. गुरु गोविंद सिंह कौन थे?
   (अ) सिखों के अंतिम गुरु (ब) कबीर के गुरु
   (स) गुरुनानक के वंशज (द) पंजाब के राजा
2. गुरु गोविंद सिंह किस मुगल सम्राट के समकालीन थे?
   (अ) अकबर (ब) जहागीर
   (स) शाहजहाँ (द) औरंगजेब
3. किस सिख गुरु के नेतृत्व में सिक्ख राजनैतिक व सैनिक शक्ति के रुप में संगठित हुए?
   (अ) अर्जुनदेव (ब) तेगबहादुर
   (स) गुरुगोविंद सिंह (द) गुरु हरगोविंद
4. किसने गुरु की गद्‌दी की प्रथा समाप्त करते हुए गुरुवाणी को ही गुरु का स्थान प्रदान किया?
   (अ) गुरु हरिराय (ब) गुरु गोविंद सिंह
   (स) गुरु हरिकिशन (द) गुरु तेगबहादुर
5. दसवें बादशाह नामक ग्रंथ का संकलन किस सिक्ख गुरु ने किया था?
   (अ) गुरु अंगददेव ने (ब) गुरु रामदास ने
   (स) गुरु अमरदास ने (द) गुरु गोविंद सिंह
6. किसकी समाधि के कारण नन्देड गुरुद्वारा सिक्खों द्वारा पवित्र माना जाता है?
   (अ) गुरु अंगददेव की (ब) गुरु अमरदास की
   (स) गुरु गोविंद सिंह की (द) गुरु अर्जुन देव की

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (द) 3. (स) 4. (ब) 5. (द)
6. (स)